अमीरुद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी,

लखनऊ

H
891.4304
क्रम सं०
Sh 401R
पुस्तक सं०

रामचरितमानस का तत्त्व-दर्शन

जबलपुर विश्वविद्यालय की पी-एच्० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

रामचरितमानस का तत्त्व-दर्शन

श्रीश कुमार
एम० ए०, पी-एच्० डी०
हिन्दी-विभाग, डी० एन० जैन कालेज
जबलपुर

लोक चेतना प्रकाशन
जबलपुर

86961

© डा० श्रीश कुमार

प्रकाशक
लोक चेतना प्रकाशन
शहीद स्मारक पथ, जबलपुर

प्रथम संस्करण, १९६६
मूल्य : दस रुपये

मुद्रक
भार्गव प्रेस
आई का बाग
इलाहाबाद

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ जबलपुर विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत, 'रामचरित मानस का तत्त्व-दर्शन' शीर्षक मेरे शोध-प्रबन्ध का किंचित् परिवर्तित रूप है।

रूपाकृति, बाह्य-विधान, कथा-तंत्र और शिल्प-विधि की दृष्टि से तो मानस की बहुत आलोचना हुई, पर मानस के तत्त्वदर्शन का सांगोपांग व्यवस्थित आख्यान अभी भी अव्याख्यात है।

प्रायः ऐसा हुआ है कि आलोचकों ने अपने मन्तव्य पहले से स्थिर कर लिए और उन मन्तव्यों को पुष्टि के लिए, अनुकूल पंक्तियों के चयन में वे बाद में प्रवृत्त हुए। ऐसे लोग अभिव्यक्ति की अपनी लिप्सा तो पूरी कर लेते हैं, पर कवि का मूल कथ्य और अभिप्रेत वहाँ अव्याख्यात ही रह जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि गूढ़ार्थ-व्यञ्जक वचनों का उद्धार तो किया जाता है, पर उनकी मीमांसा के नाम पर व्याख्याकार भावुकता के प्रलाप की रेखाएँ खींच कर ही सन्तोष कर लेते हैं।

तुलसी के अध्यात्म और तत्त्व-दर्शन की विवेचना करने वाला जो भी कार्य अद्यावधि हुआ है, वह परिणाम या गुण किसी भी दृष्टि से बहुत विशिष्ट नहीं माना जा सकता। फादर जे० एन० कारपेण्टर की पुस्तक 'दि थियॉलाजी ऑव तुलसीदास' डी० डी० की धर्म-विषयक उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप में लिखी गई है। स्वभावतः उसमें मिशनरी दृष्टि की प्रधानता है। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का शोध-प्रबन्ध 'तुलसी-दर्शन' अधिकांशतः तुलसी के व्यावहारिक और सामाजिक दर्शनालोचन की ही सामग्री से आपूर है। यों, डा० मिश्र सिद्धान्तविद् हैं पर उन्होंने तत्त्व-समीक्षा में पर्याप्त रुचि नहीं प्रदर्शित की। तत्त्व-समीक्षा के सन्दर्भ में उनके जो मन्तव्य और निष्कर्ष हैं, उनसे किसी विज्ञ को असहमति तो नहीं हो सकती पर उन्होंने सूत्र-रूप में ही बातें कही हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त के शोध-प्रबन्ध 'तुलसीदास' में भी अध्यात्म-दर्शन सम्बन्धी सामग्री मिल जाएगी, पर उसमें भी विवेचन की अपेक्षा विवरण की ही प्रधानता है। तुलसी की वैयक्तिक आध्यात्मिक मनोदृष्टि के सम्बन्ध में कोई इंगित वहाँ नहीं मिल

पाता। डा० रामदत्त भारद्वाज की पुस्तक 'द फिलॉसफी ऑव तुलसीदास' तो अभी अप्रकाशित ही है।

डा० उदयभानसिंह का डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध 'तुलसी दर्शन मीमांसा' तुलसी विषयक दार्शनिक समीक्षा के अभाव की पूर्ति की दिशा में एक दृढ़ अगला चरण है। इस ग्रन्थ से लेखक के विस्तृत अध्ययन तथा अन्वेषण-रुचि का पर्याप्त परिचय मिलता है। चूंकि उपर्युक्त ग्रन्थ एक शोध-प्रबन्ध के रूप में लिखित है, और प्रस्तुत विषय पर अद्यतन कृति है अतः किंचित् विस्तार पूर्वक इसकी समीक्षा समीचीन होगी।

लेखक का दावा है कि उसने तुलसी-साहित्य में बहुधा उल्लिखित काल, कर्म, स्वभाव, गुण, सृष्टि, त्रिविध शरीर, अन्तःकरण चतुष्टय, धर्म, भक्ति-रस आदि अव्याख्यात विषयों का शास्त्रीय व्याख्यान प्रस्तुत किया है। लेखक का यह दावा सच हो सकता है। पर साथ ही यह भी सच है कि तुलसी की आध्यात्मिक मनोदृष्टि और दार्शनिक विचार-धारा को उद्घाटित करने वाले बहुत से विचार-बिन्दु छूट गए हैं, जिनका व्याख्यान अनिवार्य था; यथा—ब्रह्म का वेदान्त-वेद्यत्व, आत्मा का स्वयं-प्रकाशत्व, अविद्या का जगत्-कारणत्व, ख्याति का अध्यस्तत्व और अनिर्वचनीयत्व, आत्मा और अनात्मा का इतरेतराध्यास, कार्याध्यास का अनादित्व, अज्ञान का सम्बन्ध होने पर भी आत्मा को असंगता का विचार और असंग-स्वभाव आत्मा में विषय-संग की प्रतीति के कारण का और प्रमातृ चैतन्य के स्वरूप का निरूपण, निर्विकल्प चैतन्य में सविकल्प अध्यास का उपपादन तथा आत्मा में कल्पित होनेवाले कर्तृत्वादि की कल्पितता और साक्षी की अव्यभिचारिता का कथन, ज्ञान तथा कर्म के समुच्चय तथा आत्मा की अनुमेयता का खण्डन, परिणाम और विवर्त्त का भेद-निरूपण तथा परिणामी अहङ्कार और कूटस्थ आत्मा का लक्षण-निर्देश। तुलसी-साहित्य में उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित प्रभूत और पुष्कल सामग्री है। पर इनके विवेचन में लेखक के अनभिनिवेश को कदाचित् अहेतुक भी नहीं कहा जा सकता।

पृ० ३४० पर डा० सिंह लिखते हैं—'तुलसीदास का दर्शन औपनिषदिक दर्शन का समशील नहीं है।....उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म-भाव ही मुक्ति है। तुलसी की दृष्टि में दास-भाव से भगवान् के समीप उनके बैकुण्ठ-धाम में निवास ही आदर्श मुक्ति है।'

यदि डा० सिंह का यह कथन विश्वस्त माना जाए कि 'तुलसी की दृष्टि में दास-भाव से भगवान के समीप उनके बैकुण्ठ धाम में निवास ही आदर्श मुक्ति है', तो 'सरिता जल जलनिधि महुँ जाई, होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।

और 'जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाइ' आदि पंक्तियों की व्यवस्था किस प्रकार होगी ? कहना न होगा कि उपर्युक्त वचन श्रुति-मंत्रों के अनुवाद रूप ही हैं। मुण्डक का मंत्र है :

'यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नाम-रूपाद्विमुक्ता परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।' वहीं आगे कहा गया है : 'य यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'

निर्गुण-सगुण विवेचन के प्रसंग में डा० सिंह पृ० ४६ पर लिखते हैं: "....तुलसी के राम स्वरूपतः सगुण हैं।....तत्त्वतः निर्गुण और सगुण में कोई स्वरूप-भेद नहीं है।" पहली बात तो यह कि इन दोनों वाक्यों में समग्र विरोध है। यदि विरोध का परिहार अभीष्ट हो तो 'स्वरूपतः' और 'तत्त्वतः' के तात्त्विक और स्वरूपगत अन्तर को स्पष्ट करना होगा। दूसरी बात यह कि तुलसी के राम स्वरूपतः सगुण नहीं अपितु निर्गुण हैं। यह बात विचित्र भले लगे पर है तात्त्विक। अपने प्रबन्ध के 'निर्गुण-सगुण' अध्याय में मैंने इस विषय का विशद विवेचन किया है।

पृ० ३४४-४५ पर डा० सिंह लिखते हैं—'अद्वैतवाद निर्गुण और सगुण ब्रह्म में भेद मानता है।' अपने कथन की पुष्टि के लिए लेखक ने पाद-टिप्पणी में ब्रह्मसूत्र १।२।१४ पर शाङ्कर भाष्य का निर्देश किया है। निर्देश भर है, शङ्कर के वचनों का उद्धार नहीं किया गया है। पर 'स्थानदिव्यपदेशाच्च' (ब्र० सू० १।२।१४) की व्याख्या में शङ्कर तो स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है तो भी उपासना के लिए स्थल-स्थल पर सगुण की तरह नाम और रूप से उसका उपदेश किया जाता है। जैसे उपासना के लिए विष्णु का शालग्राम में उपदेश अनुचित नहीं है, उसी प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म का भी ध्यान के लिए विशिष्ट स्थान में उपदेश विरुद्ध नहीं है। व्याख्या मूल में इस प्रकार है—

'निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूप गतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं यत्र तत्रोपदिश्यत इत्येतदप्युक्तमेव। सर्वगतस्याऽपि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते, शालग्राम इव विष्णोरित्येतदप्युक्तमेव।'

पृ० ४२ पर डा० सिंह लिखते हैं—'इस प्रकार उनके (तुलसी के) अनुसार तत्त्व तीन हैं—राम, जीव और जड़ जगत्।' इसी तथ्य की विवृत्ति करते हुए वे अगले पृष्ठ पर लिखते हैं, 'सत्यत्व की दृष्टि से इन तत्त्वों के दो वर्ग हैं—नित्य तथा अनित्य। राम और जीव नित्य तत्त्व हैं, जड़-जगत् अनित्य है, क्योंकि उसका प्रतीयमान रूप सर्वकालवर्त्ती नहीं है। इन्हीं दो वर्गों को नामान्तर से पारमार्थिक और व्यावहारिक भी कहा गया है।' पर तत्त्वतः तुलसी की दृष्टि

में तत्त्व तीन नहीं अपितु एक, है जीव और जगत् ब्रह्म के विभाव मात्र हैं। तत्त्व अद्वैत और परमार्थरूप है, यह बात तुलसी ने अनेकशः और अनेकविध कही है। यहाँ यह तथ्य भी स्मरण रखना होगा कि व्यावहारिक सत्यत्व को सत्य का भेद नहीं माना जा सकता, व्यावहारिक प्रमाण की विषयता ही व्यावहारिक सत्यत्व है। व्यवहार तथा परमार्थ में 'सत्यत्व' जाति नहीं रह सकती। वस्तुतः असत्य प्रपञ्च में लौकिक व्यवहार की अज्ञता होने से तभी तक उसकी 'व्यवहार' संज्ञा भी है, जब तक कि परमार्थ ज्ञान से उसका बाध नहीं हो जाता। इसी अभिप्रायः से तुलसीदास कहते हैं :

जेहि जाने जग जाइ हेराइ।
जागे यथा सपन भ्रम जाई॥

पृ० ५४-५५ पर डा० सिंह लिखते हैं—"श्रुतियों में ब्रह्म के परस्पर विरोधी गुणों की चर्चा की गई है। इसी प्रकार पुराणकारों ने भी भगवान् को विरोधीगुणों का आश्रय बतलाया है। 'गीता', 'महिम्नस्तोत्र' आदि में भी उनके विरोधी गुणों का प्रतिपादन किया गया है। इसी परम्परागत मान्यता के अनुसार तुलसीदास ने भी अनिर्वाच्य भगवान् की दुरूह महिमा प्रतिपादित की है।" और उसके बाद अपनी दुरूह महिमा प्रतिपादित करते हुए लेखक ने विरोधी गुणों (?) की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत कर दी है। अन्ततः इस विरोध का परिहार किस विधि से सम्भव है? कुछ विद्वानों ने तो यह कह कर मुक्ति प्राप्त कर ली कि देश-काल-निमित्त आदि उपाधियों से विरहित परम चैतन्य सारे विरोधों का पर्यवसान है। डा० सिंह ने भी बड़ी सफाई से एक वाक्य में सारा मामला निबटा दिया है। पृ० ५६ पर आप लिखते हैं—'राम के विरोधी गुणों के अनेकधा उल्लेख का प्रयोजन है, उनके स्वरूप की अज्ञेयता और अनिर्वचनीयता का प्रभावशाली प्रतिपादन।' डाक्टर साहब कहते हैं तो तुलसी ने जरूर अपने मत का प्रभावशाली प्रतिपादन किया होगा, पर वे स्वयं अपने मत का प्रभावशाली प्रतिपादन नहीं कर पाए। क्या तुलसी द्वारा उल्लिखित और डाक्टर साहब द्वारा उद्धृत 'व्यापक और व्याप्य', 'एक और अनेक', 'सगुण और निर्गुण' आदि तथाकथित विरोधी गुण सर्वत्र ब्रह्म की अनिर्वचनीयता ही प्रतिपादित करते हैं? निश्चित रूप से ऐसा नहीं है। 'व्यापक और व्याप्य' द्वारा ब्रह्म का विवर्ताश्रयरूप अधिष्ठानत्व, 'सगुण और निर्गुण' द्वारा माया की उपाधि का कार्य और 'एक-अनेक' द्वार भोक्तृ-भोग्य आदि प्रपञ्च की ब्रह्म से अभिन्नता सूचित की गई है। इसी प्रकार इन तथाकथित विरोधी गुणों के परिहार की पद्धति भिन्न-भिन्न है। उसके निरूपण के लिए एक स्वतंत्र और लम्बा निबन्ध अपेक्षित होगा।

इस प्रकार डा० सिंह के शोध-प्रबन्ध की अपनी विशिष्ट त्रुटियाँ हैं। पर सीमाओं और त्रुटियों के होते हुए भी ग्रन्थ पर्याप्त उपयोगी है। तुलसीदास के आध्यात्मिक वचनों का विभिन्न शीर्षकों और उपशीर्षकों में विभाजन और वर्गीकरण तो उन्होंने कर ही दिया है। सिद्धान्तों की यथातथ्य व्याख्या उत्तरोत्तर होती रहेगी। इसी प्रकार तो अध्ययन, शोध और गवेषणा का क्रम पुरस्सर होता है।

तुलसी-दर्शन की शोध की दिशा में किए गए सभी प्रयत्नों के महत्व को स्वीकार करते हुए भी, मैंने प्रयत्नपूर्वक अब तक के कार्यों की परम्परा से सर्वथा स्वतन्त्र होकर अपनी गवेषणा की है। अतः मेरी स्थापनाएँ आवृत और पिष्ट-पेषित स्थापनाओं से भिन्न हों, यह प्रकृत ही है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मानस के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर तुलसी की सारी दार्शनिक मान्यताओं को एक निश्चित सैद्धान्तिक पद्धति के रूप में लक्ष्य किया गया है और इस प्रकार मानस की दोहा-चौपाइयों के आधार पर ही तुलसी की दार्शनिक दृष्टि का सुनियोजित आकलन इस प्रबन्ध का प्रथम और महत्वपूर्ण लक्ष्य बन गया है। इस दिशा में कार्य करते हुए सहज ही यह प्रतीति हुई कि तुलसी का दार्शनिक मतवाद शंकर के मत से अत्यधिक आसन्नता रखता है। अतः प्रबन्ध के 'विषय-प्रवेश' में शंकराचार्य के निर्विशेष अद्वैत-मत की संक्षिप्त विवेचना कर दी गई है। मूल प्रबन्ध के विग्रह में भी सादृश्य की सूचना के लिए अद्वैत-वेदान्त के आर्ष ग्रन्थों, शङ्कराचार्य के मौलिक ग्रन्थों अथवा प्रस्थानत्रयी पर उनके भाष्यों से उद्धरण दे दिए गए हैं, जिससे सिद्धान्तों की एकता का स्पष्ट बोध हो सके।

अपने विश्लेषण में मैंने वेदान्त के आर्ष और मौलिक ग्रन्थों का ही आधार ग्रहण किया है और प्रयत्नपूर्वक यह चेष्टा की है कि आलोचनात्मक व्याख्याओं और परवर्त्ती विवेचनों से कम से कम प्रभावित हुआ जाए। क्योंकि ऐसी व्याख्याएँ प्रायः लेखकों की पूर्वग्रहविधायिनी दृष्टि का परिणाम प्रतीत हुईं। अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए मानस से तत्त्वदर्शनपरक प्रायः उस समूची सामग्री का संकलन कर दिया गया है जो सामग्री आर्ष-ग्रन्थों की उक्तियों से मिलती-जुलती, प्रभावित-प्रेरित अथवा अनूदित है। अतः प्रबन्ध में वेदान्त की उस परम्परा की भी शोध हो गई है, जिसके विषय में अब तक विद्वान स्फुट और संयोगलब्ध समानान्तरताओं के आधार पर ही अपना मत देते रहे हैं।

मानस से उद्धृत पदों और उसके मौलिक रूपों को उद्घाटित करने वाले आर्ष-वचनों में सम्वाद स्थापित करने में यदि कहीं चूक हो गई हो, अथवा

मीमांसा में यदि कहीं विताख्यान हो गया हो, तो उसका दायित्व मुझी पर है।

प्रकरण के अंगांगी होने के नाते कहीं-कहीं एक-सी ही उक्तियों का अनेकशः उद्धार और एक ही विषय का पुनः उपन्यास हो गया है। वह पुनरुक्ति न मानी जाए।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रारम्भ, प्रगति और पूर्ति में अनेक अभिभावकों का आशीष और अनेक सुहृदों का सद्भाव रहा है। मेरे पूज्य पिता कविराज हरिवंश सहाय जी का लगभग चौथाई शताब्दी का दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी गूढ़ ज्ञानार्जन का लाभ उनके आशीर्वाद की भाँति ही प्राप्त होता रहा। श्रद्धेय गुरुवर श्री डा० राजबली जी पाण्डेय ने निरन्तर उत्साहित किया। प्रबन्ध को वैज्ञानिक रूपाकार प्रदान में उनके निर्देश अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुए। आदरणीय गुरुवर डा० चन्द्रधर जी शर्मा ने कृपापूर्वक बहुत-सी जटिल शङ्काओं का समाधान किया। उनका मुझ पर बहुत ऋण है। वरेण्य श्री डा० उदयनारायण जी तिवारी और आचार्य श्री भगवत शरण जी अधोलिया ने मेरे शोध-प्रबन्ध में आने वाले गतिरोधों को दूर कर सदैव मेरा मार्ग प्रशस्त किया। सब के प्रति मेरी कृतज्ञता मूक है। बन्धुवर गुरुप्रसाद कर्ण ने मेरी पाण्डुलिपि टङ्कित कर मेरी सहायता की है। पर उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता होगी। मेरे शिष्य श्री रामदयाल कोष्टा एम० ए०, रिसर्च स्कालर ने ग्रन्थ की नामानुक्रमणिका प्रस्तुत करने में मेरी सहायता की है। वे आशीर्वादार्ह हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के निमित्त विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने साढ़े बारह सौ रुपयों का आर्थिक अनुदान दिया है। आयोग का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

—श्रीश कुमार

अनुक्रम

(१) विषय-प्रवेश ९— ३६
(२) ब्रह्म ३७—१०९
(क) राम परम-ब्रह्म हैं ३९— ४५
तुलसी के द्वारा राम के परब्रह्मत्व का समर्थन—मूल वाल्मीकि रामायण में अवतारवादी सामग्री का अभाव—ब्रह्म शब्द की वृद्धयर्थक 'बृह' अथवा 'बृहि' धातु से निष्पत्ति—ब्रह्म की त्रिविध परिच्छेदशून्यता—ब्रह्म के विभुत्व का उपपादन—ब्रह्म का स्वरूप और तटस्थ लक्षण।
(ख) ब्रह्म वेदान्त-वेद्य है ४५— ४८
शास्त्र की आत्म-ज्ञान में लक्षणा-वृत्ति से कारणता—श्रुति और प्रत्यक्ष का बलाबल-विचार—श्रुति और प्रत्यक्ष के उपजीव्योपजीवक भाव का विरोध-परिहार—वेदान्त-विचार के व्यर्थत्व की आशंका और उसका परिहार।
(ग) ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है ४९— ६३
ब्रह्म की कूटस्थ एकरसता का विचार—ब्रह्म की परिच्छेदशून्यता का कथन—ब्रह्म की अखण्डता का उपपादन—ब्रह्म की नित्यता का निर्वचन—ब्रह्मपरिणामवाद का निरास—ब्रह्म की सर्वज्ञता का उपपादन—ब्रह्म के सर्वान्तर्यामी-स्वरूप का विवेचन—अंतर्यामी ब्रह्म के ही द्वारा एतत्समस्त विधृत, यह कथन।
(घ) ब्रह्म स्वयंप्रकाश और स्वयंसिद्ध है ६४— ६९
ब्रह्म ही सारे प्रमाणों का उपजीव्य है—आत्मा द्वारा ही अनात्मा की सिद्धि—स्वतःसिद्ध और प्रमाण जन्य सत्य का विचार—विभिन्न प्रमाणों द्वारा आत्मा के स्वयंप्रकाशत्व का निर्वचन—श्रुतियों द्वारा ब्रह्म के स्वयं-प्रकाशत्व का निर्वचन।
(ङ) ब्रह्म एक अद्वैत और भेदातीत है ७०— ८१
सामानाधिकरण्य के चार प्रकार—ब्रह्म के निर्विशेष अद्वैतत्त्व का समर्थन—व्यावहारिक नानात्व श्रौत-बुद्धि का उपजीव्य है, यह कथन—अद्वैत श्रौत-बोध का विषय नहीं, स्वरूप ही है—अद्वैत में मान-मेय-भाव का

परिहार—नामरूपात्मक उपाधियों का विचार—मनोव्यापार रूप प्रयत्न से द्वैत की अभिव्यक्ति—मूल श्रुति द्वारा परिश्रम रहित निर्व्यापार दशा का वर्णन—दृश्य-प्रपञ्च की प्रतीति मनःस्पंदन के अधीन है, यह कथन—ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादान-कारणता का विचार—निमित्त-कारण और उपादान-कारण का विवेचन—श्रुतियों द्वारा अभिन्न निमित्तोपादानकारणवाद का समर्थन—परमाणुवाद, स्वभाववाद और जगत्कारणवाद का खण्डन—ब्रह्म में प्रपञ्च की विवर्त्ताधिष्ठानता का निरूपण।

(च) ब्रह्म अप्रमेय अव्यक्त और अतीन्द्रिय है ८२— ९०

ब्रह्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की विषयता का अभाव—प्रत्यक्षादि दृष्टि में परिच्छिन्न रूपादि की ग्राहकता—आत्मा में प्रमाण की विषयता मानने से कर्मकर्त्तृविरोध का सद्भाव—प्रमाण-प्रमेय की व्यवस्था जीव में है, ब्रह्म में नहीं, यह कथन—आत्मा लिंग शरीर और उसकी सारी अवस्थाओं का साक्षी है—अद्वैत मत में प्रमाणों के प्राणपद होने से ब्रह्म की सिद्धि—श्रुति द्वारा ब्रह्म के अप्रमेयत्व का समर्थन—ब्रह्म इंद्रियातीत है—ब्रह्म तर्क की ऊहा के परे है—ब्रह्म की अनुमेयता का खण्डन—ब्रह्म बुद्धिग्राह्य नहीं है—ब्रह्म 'नेति नेति' है—ब्रह्म भावरूप है।

(छ) निर्गुण-सगुण-विचार ९१—१०९

ब्रह्म का भावात्मक वर्णन शक्य नहीं—ब्रह्मतत्त्व निर्विशेष है—ब्रह्म के मूर्त्तामूर्त्त द्विविध रूपों का कथन—स्वयंप्रकाश का साक्षात्कार न होने में कारण—ब्रह्म के असंगत्व का प्रतिपादन—अवतार के विविध प्रयोजन—अवतार के सम्बन्ध में इदमित्थम् रूप से कोई कथन अशक्य—तुलसी का विचित्रवाद बादरायण-मत के अनुरूप—माया आत्माश्रित है—राम की योगमाया का राम से अपृथक-तादात्म्य-भाव।

निर्गुण-सगुण-विवेचन के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य—तुलसी के मत में परमार्थ दृष्टि से निर्गुण और सगुण में कोई तात्त्विक भेद नहीं—उपनिषदों के निर्विशेष परम तत्त्व और दशरथ-सुत राम परस्पर अभिन्न—परब्रह्म के स्वतः ही दो लिङ्ग उपपन्न नहीं होते—विद्या-अविद्या-विषयक भेदों के कारण श्रुतियों में ब्रह्म का द्विरूपत्व उपदिष्ट—ब्रह्म में सविशेषता मायाकृत है, यह कथन—राम का निर्गुण स्वरूप मन का अविषय—निर्गुण के ध्यान के लिए सगुण की उपासना आवश्यक—साकार ब्रह्म-विषयक वाक्य, साकार ब्रह्म-प्रधान नहीं, उपासना-विधि-प्रधान हैं, यह कथन—तुलसी को अपने प्रयोजन की व्यावहारिकता के लिए सगुण स्वरूप का अवलम्बन इष्ट।

(३) माया ११०—१३०

ब्रह्म के आस्पद में चित्त अध्यास से प्रपञ्च का आरोप करता है—स्वयंप्रकाश आत्मा में अज्ञान कहाँ से आया, ऐसी शंका का व्यर्थत्व—प्रपञ्च के अविद्या-जन्यत्व का विचार—माया की आवरण-विक्षेप-रूप दो शक्तियाँ—मन की सारी विकृतियाँ माया-जन्य—माया राम की नर्त्तकी, चेरी और दासी है—राम मायापति हैं—कार्याध्यास का अनादित्व—संसार मनोमात्र है—स्वप्न पदार्थ में भ्रमत्व का उपपादन—जगत् की व्यावहारिक सत्ता का विवेचन—विभिन्न युक्तियों द्वारा प्रपञ्च की मायिकता का समर्थन—परिणाम और विवर्त्त का लक्षण—तुलसी द्वारा-विवर्त्तवाद का समर्थन।

(४) जीव १३१—१५०

देहातिरिक्त आत्मा का प्रतिपादन—देही अविनाशी है—ब्रह्म और जीव के औपाधिक भेद का विचार—जीव ब्रह्म का अंशांशि-भाव औपचारिक है—विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद अविद्या द्वारा उपस्थापित—श्रुति और युक्ति द्वारा जीव-ब्रह्म के ऐक्य का समर्थन—जीव की कर्मानुरूप गतियाँ—जीव में कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि कर्म नहीं हैं—तत् और त्वम् पद का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ—महावाक्य में लक्षणा वृत्ति का उपपादन।

(५) मोक्ष और मोक्ष-साधन १५१—१८०

मोक्ष जीव की मित सत्ता का अपरिच्छिन्न आध्यात्मिक चेतना में पर्यवसान—आत्म-ज्ञान और उसके फल मोक्ष में कार्यान्तर का वारण—मोक्ष कर्म-साध्य नहीं है—ज्ञान-कर्म-समुच्चय का खण्डन—स्वरूप-ज्ञान के अनन्तर कर्म में प्रवृत्ति का अभाव—भक्ति की महिमा और उसकी उत्कृष्टता का विचार—भक्ति के विभिन्न साधन और भूमिकाएँ—ब्रह्मनिष्ठ आत्माराम मुनियों द्वारा भी भक्ति की याचना मनुष्य—शरीर की सार्थकता भक्ति-साधन में ही—नवधा भक्ति—अध्यात्म रामायण और भागवत में उल्लिखित नवधा भक्ति—नाम-स्मरण की महत्ता—शिव-भक्ति, राम-भक्ति की आवश्यक भूमिका—संत, गुरु और सत्संग की महिमा—ज्ञान मोक्षप्रद है—ज्ञान-पंथ की अपाय-संकुलता का विचार—ज्ञान दीपक और भक्ति-चिन्तामणि की तुलना—ज्ञान और भक्ति में अभेद-प्रतिपादन।

(६) नामानुक्रमणिका १८१—१९०

विषय-प्रवेश

विषय-प्रवेश

संस्कृत का 'दर्शन' शब्द ग्रीक शब्द 'फ़िलासफ़ी' के पर्याय रूप में रूढ़ सा हो चला है। पर दोनों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों में जो मौलिक भेद है, वह उन दोनों के स्वरूप, प्रयोजन और उद्देश्य के पार्थक्य की सूचना देता है। 'फ़िलास' का अर्थ है 'अनुराग' और 'सोफ़िया' का विद्या, अतः फ़िलासफ़ी शब्द का अर्थ हुआ 'विद्यानुराग'।

प्लेटो और अरस्तू ने 'फ़िलासफ़ी' का आरम्भ 'आश्चर्य' (वण्डर) से माना है। महावीर और बुद्ध के समसामयिक पैथागोरस ने 'फ़िलासफ़ी' का सम्बन्ध शुद्ध ज्ञानैषणा और डेकार्ट ने संशय से स्वीकार किया। ये दोनों ही एक ओर आश्चर्य से मिलते हैं और दूसरी ओर कुतूहल से। अतः 'फ़िलासफ़ी' का प्रेरक प्रयोजक हेतु मानस-कुतूहल ही है।

भारतवर्ष में 'दर्शन' कभी भी कुतूहल की तृप्ति का साधन या बौद्धिक वाग्विलास नहीं माना गया। वह जीवन का एक आध्यात्मिक उद्योग था। भारत में दर्शन का आरम्भ आत्यन्तिक दुःख-जिहासा की भावना से हुआ। पर दर्शन के प्रयोजन के सम्बन्ध में वर्त्तमान यूरोप के पण्डितों की यही धारणा है कि 'दर्शन दर्शन के लिए' ही है। अपना उद्देश्य वह स्वयं ही है। वह किसी अन्य महत्तर उद्देश्य का साधन नहीं है। वह स्वतः साध्य, शेषी, उपेय और लक्ष्य है।

पिछली शताब्दी में यूरोप में बहुप्रचलित सिद्धान्त 'कला कला के लिए है' का टालस्टाय और रस्किन जैसे मनीषियों ने विरोध किया। पर 'दर्शन दर्शन के लिए है', इस सम्बन्ध में यूरोप में कभी गम्भीर मतभेद नहीं हुआ।

'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्।' यों तो 'दृश' धातु समस्त इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसा कि शंकराचार्य छान्दोग्यभाष्य में कहते हैं—'दृशेः सर्वकरणद्वारोपलब्ध्यर्थत्वात्'; पर तत्त्व-विचार के क्षेत्र में दर्शन का अर्थ सविकल्प इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न हो कर निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति है।

सम्भवतः 'दृश' शब्द प्रस्तुत अर्थ में 'ईशोपनिषत्' में प्रथमतः प्रयुक्त हुआ है। बृहदारण्यक, ऐतरेय, छान्दोग्य, कठ आदि परवर्त्ती उपनिषदों में भी, 'दृश' धातु से निष्पन्न शब्द इसी अर्थ में उपपन्न हैं।

तथागत ने निर्वाण के निमित्त जिस 'अष्टांग मार्ग' का उपदेश किया है, उसमें 'सम्मादिट्ठि' ही प्रथम है। प्रसिद्ध जैन-ग्रन्थ 'तत्वार्थ सूत्र' का पहला सूत्र है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः।' सांख्य के प्रवक्ता पंचशिखाचार्य का सूत्र है—'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्।'

भारतवर्ष में दर्शन—आत्म-दर्शन, अध्यात्म-विद्या या ब्रह्म-विद्या को समस्त ज्ञान की पराकाष्ठा माना गया है। यह आत्म-विद्या या अध्यात्म-विद्या वही अमृत विद्या है जिसे उपनिषदों में 'गुह्य विद्या' या 'रहस्य-विद्या' कहा गया है, मुण्डक ने जिसे 'सर्वविद्याप्रतिष्ठा' और कौटिल्य ने जिसे 'सर्वविद्यानामुपायः' कहा, और जिसके सम्बन्ध में शंकराचार्य की उक्ति है—'दीप्यते हि इदम् अतिशयेन ब्रह्मविद्या सर्वविद्यानाम्।' इसी की महत्ता के प्रतिपादन के प्रसंग में अध्यात्मविद्या को अपना स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा—'अध्यात्म विद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।'

आत्म-तत्त्व का सम्यक् बोध अथवा अपने अन्तर्हित स्वरूप का उद्घाटन ही इस अध्यात्म-विद्या का चरम और परम है। बारह वर्षों तक वेदाध्ययन करने वाले श्वेतकेतु ने इसी आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में शङ्का की—'कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति।' उसी आत्म-तत्त्व की जिज्ञासा ले कर प्रसिद्ध गृहस्थ शौनक अंगिरा के पास गए। उसके ही ज्ञान की अभीप्सा से, ऋक्, यजुः, साम, अथर्व ये चारों वेद, पंचम वेद रूपी इतिहास-पुराण, वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्ध-कल्प, राशि, दैव, निधि, तर्क-शास्त्र, नीति-शास्त्र, राज-शास्त्र, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या सर्प-विद्या आदि का अध्ययन कर लेने पर भी शोचग्रस्त नारद 'सोऽहं भगवो, मन्त्रविद् एवऽस्मि नऽऽत्मवित्' कहते हुए सनत्कुमार के आश्रय में गए और इसी सूत्रात्मा अन्तर्यामी आत्म-तत्त्व के बोध के लिए जिसे जान कर, मुमुक्षु लोक-ज्ञाता, देव-ज्ञाता, वेद-ज्ञाता, सकलभूत-ज्ञाता, आत्म-ज्ञाता, सर्वज्ञाता हो जाता है, देवराज इन्द्र को प्रजापति के पास शताधिक वर्षों तक रहना पड़ा।

उपर्युक्त उदाहरणों-उद्धरणों से, श्रेय की प्रतिपत्ति में आत्म-विद्या का निरतिशय साधनत्व सूचित होता है। इसीलिए मुक्तावलीकार कहते हैं—'न च ततः परं कामयितव्यमस्ति, सर्वेषां कामनामात्मप्राप्तिसीमत्वात।' शंकराचार्य की भी उक्ति है—'अपि चाऽन्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नाऽतः परं किञ्चिदाकाङ्क्ष्यमस्ति।' आत्म-प्राप्ति के अनन्तर कुछ भी प्रार्थनीय नहीं रहता। इसीलिए श्रुति चेतावनी देती हुई कहती है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'; यदि यहाँ जान लिया तो श्रेष्ठ अन्यथा महती हानि है। इसी अभिप्राय से गोस्वामी जी कहते हैं :

हानि कि जग येहि सम कछु भाई।
भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥

पर इस आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को हृदयङ्गम करने के लिए, जीव और जड़ को जो गीता में परा और अपरा प्रकृति के रूप में व्याख्यात है और जो ब्रह्म के ही दो विभाव हैं, समझना अनिवार्य है। अतः जीव और जड़ का ज्ञान ब्रह्मविद्या का अंगीभूत है। उपर्युक्त तीनों के स्वरूप और सम्बन्ध का निर्णय ही दर्शन की समस्त समस्याओं का मूल है। इन्हीं के साथ अन्य आनुषंगिक समस्याएँ और प्रश्न भी संपृक्त हैं, यथा, ईश्वर सविशेष है अथवा निर्विशेष; जीव एक है या अनेक; नित्य है अथवा अनित्य; कर्त्ता-भोक्ता है अथवा अकर्त्ता-अभोक्ता; परमात्मा से उसका भेद है या अभेद; कार्यरूप परिणाम स्वाभाविक है या नैमित्तिक; कार्य कारण से भिन्न है या अभिन्न अथवा भिन्नाभिन्न; परमात्मा का कर्तृत्व कर्म-सापेक्ष है अथवा कर्म-निरपेक्ष; अचेतन पदार्थ सत् है या असत् अथवा दोनों से विलक्षण; सत् होने पर भी वह स्थिर है या क्षणिक; विनाशी है या अविनाशी; विनाश भी सान्वय है या निरन्वय; आत्मा के साथ चित्त का संयोग कैसे होता है; निर्विकल्प चैतन्य में सविकल्प उपपादन की विधि क्या है, आदि, आदि।

२

काव्य और दर्शन में साधनगत भेद होते हुए भी साध्यगत अभेद है। काव्य की साधना सौन्दर्य-सापेक्ष है, दर्शन की सत्य-सापेक्ष। पर इन दोनों की परिणति उसी विज्ञान-स्वरूप शिवतत्त्व अथवा निर्विकल्प अतीन्द्रिय आत्मानुभूति में होती है जो एक साथ ही कवि और दार्शनिक दोनों का लक्ष्य है। क्रोचे का कथन है कि निर्विकल्प भाव से किसी मूर्ति की अभिव्यक्ति की आख्या ही स्वयंप्रकाशज्ञान है और जिस व्यक्ति में यह ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ही कवि कहते हैं। भवभूति की उक्ति 'विन्देम देवताम् वाचम् आत्मनः कलाम्' इसी अर्थ में उपपन्न है।

साहित्य के क्षेत्र में जिन प्रमाण-पुरुषों की वाणी में सत्य और सौन्दर्य की एकत्र अन्विति और अन्योन्यसंसक्तता का विधान मिलता है, तुलसी कदाचित् उनमें अन्यतम हैं। उनका अवतरण उस संक्रान्ति के युग में हुआ था, जब राष्ट्रीय

चरित्र के भ्रंश के कारण उत्कृष्ट आलम्बन भी विकृत रूप में गृहीत थे। कृष्ण-काव्य की दीर्घकालीन काव्य-परम्परा से स्पष्ट है कि अनात्मवाद के अध्यवसाय में ह्रासोन्मुख लोक-जीवन की निर्जीव धारा को, आध्यात्मिक चेतना में उन्नीत कर, उसमें लोकोत्तर दिव्य प्रेम की महिमा प्रतिष्ठित करने वाले, जीवन में अतीन्द्रिय सुख के अनासक्त गायक कृष्ण, निम्नप्रकृति की क्षुद्र वासना-तृप्ति के आलम्बन रूप में बच रहे थे।

कृष्ण-भक्ति के प्रभाव-प्रसाद से राम-भक्ति-शाखा में भी माधुर्य-साधना का सन्निवेश हो गया और गीता में हम जिस 'रामः शस्त्रभृतामहं' के ऊर्जस्वित रूप से परिचित हो चुके थे, वे 'जानक्या सह संप्रीतः क्रीड़ारसविलम्पटः' एवं 'महारासरसोल्लासी विलासी सर्वदेहिनाम्' हो चुके थे और प्राणिक आसक्तियों में डूबे भक्त-समुदाय के बीच उनका यही रूप इष्ट हुआ।

ऐसी मूसुर्षा के काल में ऋषिकवि तुलसी ने आकृति और प्रकृति से सुन्दर और आकृति-प्रकृति-विवर्जित, अव्यपदेश्य, निरुपाधि तथा 'निर्विशेष राम' का उसके नराकार, सुराकार और नरसुर-अतीत त्रैविध्य का ऐसा सञ्चयन—अपने काव्य में उपस्थित किया कि लोक-मानस से मोह का आवरण भंग हो गया।

मानस का प्रतिपाद्य राम हैं—'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।' तुलसी के मत से वह अनुभव-गम्य और वेदान्त-वेद्य ('वेदान्तवेद्यं') हैं, जिसके स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में उन्होंने 'जेहि इमि गावहिं वेद', 'नेति नेति जेहि वेद निरूपा' आदि पदों का प्रयोग किया है।

तुलसी के 'वेदान्तवेद्य राम' के स्वरूप को पहचानने के लिए वेदान्त-दर्शन का विवेचन अपेक्षित है।

३

वेदान्त भारतीय दर्शन के चरम उत्कर्ष का प्रतीक है। परम तत्त्व का जैसा निर्वचन यहाँ प्राप्त है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कदाचित् विश्व की अन्य किसी आध्यात्मवादी दार्शनिक प्रणाली ने ब्रह्मात्मैक्य का विधान करते हुए अनुभूति के धरातल से परमसत्ता के सद्भाव की प्रतीति का ऐसा आश्वासन नहीं दिया।

वैशेषिक दर्शन पुरुष के बहिरङ्गाश्रित धर्म और भूतग्रामात्मक स्थूल शरीर सम्बन्धी पदार्थों की ही प्रधानतया चर्चा करता है; सांख्य-दर्शन की गति भी पुरुष के अन्तरङ्गाश्रित धर्म और देवग्रामात्मक सूक्ष्म शरीर सम्बन्धी पदार्थों तक ही है। बुद्धि-विकल्पों तथा ऐन्द्रिय जगत् की आलोचना में अत्यधिक अभिनिवेश दर्शित करने वाले मुखर माध्यमिक अतीन्द्रिय आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ कहने में अन्त तक अपना संकोच संवृत नहीं कर पाए। यूरोप के अधिकांश दार्शनिकों ने तो 'तत्त्व' को बौद्धिक धारणाओं द्वारा ही ग्रहण करने का आयास किया। प्लेटो अपने विश्व-व्यापी प्रयोजनवाद का कोई दृढ़ दार्शनिक आधार नहीं प्रस्तुत कर सके। अरस्तू के अचल गतिदाता ईश्वर के समर्थन में भी कोई प्रबल युक्ति नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक शोध के अनुसार गति तत्त्व पुद्गल से अविविक्त ही है, अतः जड़ द्रव्य को गति देने के लिए किसी ईश्वर की कल्पना व्यर्थ हो जाती है। स्पिनोजा का द्रव्य और लाइबनित्ज का चिद्-बिन्दु तो उनके 'बुद्धिवाद के कल्पित पुत्र' मात्र हैं। अस्तु।

उपनिषद् में वेद का चरम ज्ञान ब्रह्म-विद्या निबद्ध है ('सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषद् शब्द वाच्या') अतः उपनिषद् ही वेदान्तपदवाच्य है—'वेदान्तोनाम उपनिषत्प्रमाणम्।' वेदों में प्रातिभ ऋषियों द्वारा अनुभूत सत्य-समुच्चय ग्रथित है। चूंकि यह अनुभूत निर्विकल्प सत्य नित्य है, अतः जिस ग्रन्थ में उपर्युक्त सत्य निबद्ध है, वह भी नित्य कहा जाता है। इसी अभिप्राय से महर्षि पतंजलि ने 'महाभाष्य' में कहा है कि वेद की शाब्दी भावना नहीं अपितु उसकी आर्थी भावना ही नित्य है।

वेद शब्द 'विद्' धातु से निष्पन्न है। पाणिनि ने अपने धातु-पाठ में विद् धातु के अर्थ सत्ता, लाभ और विचारण आदि भी दिए हैं। उपर्युक्त अर्थों में प्रत्ययार्थ के योग से 'वेद' शब्द की अर्थवत्ता अत्यन्त गम्भीर हो जाती है; उसमें ब्रह्म के लक्षण—सत्ता, ज्ञान और आनन्द—का अन्तर्भाव हो जाता है।

जो हमारे अखिल अनुभवों का आधार एवं समग्र कार्य-द्रव्य का अन्तस्तत्त्व है, उसी सर्वरूप ब्रह्म-तत्त्व का व्याख्यान वेदों का प्रधान प्रयोजन है। यही निर्विशेष कारण-सत्ता, कार्य-वर्ग में अनुस्यूत और अनुप्रविष्ट है और विभिन्न नाम-रूपों को धारण और ग्रहण करती है।

ऋग्वेद के 'अदिति सूक्त' में कथित है कि जो कुछ उत्पन्न और उत्पाद्य है, वह सब अदिति ही है। यह अदिति ही सर्वरूप है।[१] अथर्ववेद के 'स्कम्भ सूक्त' का वचन है कि 'जिसमें भूमि अन्तरिक्ष और आकाश समाहित हैं; अग्नि, चन्द्रमा

---

१ ऋग्वेद, १।८९।१०

तथा वायु जिसमें अर्पित हो कर निवसित हैं, वही स्कम्भ (आधार) है। द्यावा—पृथिवी और अन्तरिक्ष को धारण करने वाला वही स्कम्भ है। वह भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान का अधीश्वर है।'[१] 'उच्छिष्ट सूक्त' में 'उच्छिष्ट' नाम से ब्रह्म का ही व्याख्यान है। प्रपञ्च का अपलाप करने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही उच्छिष्ट है। अतः 'उच्छिष्ट' का अर्थ है, बाधरहित प्रपञ्च-शून्य ब्रह्म। सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा गया है कि 'उच्छिष्ट' पर ही नाम-रूप आश्रित है।[२]

ऋग्वेद का स्पष्ट मन्तव्य है कि विभिन्न देवताओं में एक ही सत्ता अनुस्यूत है, जिसको पृथक्-पृथक् नामों से उपासना होती है।[३] वैदिक देवताओं के इस मौलिक आध्यात्मिक अभेद का उल्लेख वेदों में पदे-पदे प्राप्त है।[४] यास्क ने निरुक्त के दैवत-काण्ड में स्पष्ट स्वीकार किया है कि संसार के मूल में एक अद्वैत निरतिशय आत्मा विद्यमान है। उसकी ही बहुरूपों में स्तुति की जाती है।[५] 'बृहद् देवता' में भी यास्क की इस धारणा का समर्थन मिलेगा।[६]

उपासकों की दृष्टि में सभी देवता अभिन्न थे और सभी ने मनोरथों की पूर्ति में एक-सा भाग लिया।[७]

ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त में चरम सत्ता के एकत्व और अद्वितीयत्व का प्रतिपादन बड़ी मनहर शैली में हुआ है। वहाँ कथित है कि जो कुछ भूत और भव्य है, वह सब पुरुष ही है। वह अमरत्व का अधीश्वर है और अन्तर्यामी हो कर

---

१ अथर्ववेद, १०।७।१२; १०।७।३५; १०।८।१

२ अथर्ववेद, १०।८।१

३ ....In India they reached monism, though not monotheism, on a more philosophical path, seeing through the veil of the manifold the unity which underlies it.
—Deussen : 'Outlines of Indian Philosophy' P. 13.

४ द्रष्टव्य :
(क) ऋग्वेद, ८।३०।१; १।१६४।४६
(ख) यजुर्वेद ३२।१

५ निरुक्त, दैवत काण्ड, ७।४।८-९

६ बृहद् देवता, १।६५-६६

७ When these individual gods are invoked, they are not conceived as limited by the power of others as superior or inferior in rank. Each god is to the mind of supplicants as

भी विश्वातीत है।[१] 'नासदीय सूक्त' में उस निर्विशेष ब्रह्म का उल्लेख उपलब्ध है जो सबका आत्मा होते हुए भी स्वतः अनिर्वाच्य है। वहाँ कथित है कि जिस मूल सत्ता से सब कुछ उत्पन्न हुआ है और जो प्रत्येक द्रव्य में अनुस्यूत है, उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत्।[२]

वेदों में अद्वैतानुभूति के वे सहजोद्गार हैं, जिसे ऋषियों ने समाधि की अवस्था में अनुभव किया था। उपनिषदों की रचना के ये सूक्त ही मूल उत्स हैं।

उपनिषद् संसार के पारभौतिक आध्यात्मिक दर्शनों और रहस्य-सिद्धान्तों के सुविख्यात आदि-स्रोत हैं।[३] वे प्रातिभ-ऋषियों को समाधि के क्षणों में साक्षात्कृत सत्य की सहज अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए उनमें अनुभव की अपरोक्षता अधिक है, रूप की व्यवस्था कम—यदि रूप की व्यवस्था से अभिप्राय विचारों की संहति और तार्किक संगति से हो।[४] पर ऐसा कोई भी विसंवादि सिद्धान्त

---

good as all the gods.

—Max Muller : 'History of Sanskrit Liteature', p. 532.

१ ऋग्वेद, १।६०।१-३

२ ऋग्वेद, १०।१२६।१

३ For the historian, who pursues the history of human thought, the Upanisads have a yet far greater significance. From the mystical doctrines of the Upanisads, one current of thought may be traced to the mysticism of the Persian Sufism, to the mystic theosophical logos doctrine of the Neo-Platonics and the Alexandrin Christian mystics, Eckhart and Tauler, and finally to the philosophy of the great German mystic of the nineteenth century, Schopenhauer.

—Winternitz : 'A History of Indian Literature', Vol. I, p. 266.

४ The Upanisads do not contain any philosophical synthesis as such of the type of the system of Aristotle or of Kant or of Samkara. They have the consistency of intuition, rather than of logic.

—S. Radhakrishnan : 'Indian Philosophy' Vol. I. p. 141

नहीं है, जिसकी चर्चा उपनिषदों में न हो[१] और भारतवर्ष में कोई दर्शन-सम्प्रदाय ऐसा नहीं है जो उपनिषदों से प्रभावित-प्रेरित न हो।[२]

उपनिषदों की रचना के मूल में एक आध्यात्मिक क्रान्ति की भावना निहित है। यज्ञों के विस्तार से जनता क्षुब्ध और पीड़ित थी। उपनिषदों ने यागादि कर्मों की अनित्यता प्रतिपादित की और आत्मानुसन्धान पर आग्रह प्रकट किया।

वैदिक यज्ञों के मूल में पहले तो समष्टि-कल्याण का भाव निहित था। पर कालान्तर में कर्मकाण्डी प्रवृत्ति के काम्य चक्र और अलौकिक चामत्कारिक कृत्यों के कान्तार में फँस गए। ऐतरेय, सांखायण, पञ्चविंश, तैत्तिरीय, शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रन्थों के साक्ष्य से प्रकट है कि संहिता-काल की याज्ञिक विशेषताएँ लुप्त होती गईं और यज्ञ विस्तारमय और आडम्बरपूर्ण बनते गए। यज्ञ को प्रजापतित्व प्राप्त हुआ—'एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः।' याज्ञिकों ने घोषणा की—'अस्माभिः कृतानि दैवतानि।' अब यज्ञ ईश्वर का स्थानापन्न हो गया।

उपनिषदों ने इसका विरोध किया और घोषणा की कि यज्ञादि कर्मों के सम्पादन से जीवन के चरम पुरुषार्थ निःश्रेयस की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

---

१ Nothing that has disturbed the schools to controversy escaped their notice.

—W. B. Yeats : Preface to the 'Ten Principal Upanisads' p. 11.

२ (क) There is no important form of Hindu thought, heterodox Buddhism included, which is not rooted in the Upanisads.

—Bloomfield : 'The Religion of the Veda' p. 51.

(ख) Even the Buddhist and the Jains accept the teaching of the Upanisads, though they interpret it in their own ways.

—S. Radhakrishnan : 'The Principal Upanisads' Introduction, p. 25 F. N.

(ग) The thought of Upanishads led in the post-Vedic period not only to the great religions of Buddhism and Jainism, but also to a series of philosphical systems.

—Paul Deussen : 'Outlines of Indian Philosophy', p. 34

मुण्डक ने चेतावनी देते हुए कहा कि कर्म तो क्षुद्र नौकाओं के सदृश हैं जो संसार-संतरण में अशक्य हैं। जो अज्ञानी इन्हें ही सर्वस्व मान कर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे पुनःपुनः जरा-मृत्यु के पाश में आबद्ध होते हैं।[१] कठ ने कहा कि जिनकी गति भिन्न-भिन्न है, वे विद्या और कर्म सर्वथा विपरीत हैं।[२] मुण्डक ने आदेश किया कि ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कर्म द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा कर वैराग्य को प्राप्त हो जाए क्योंकि कृत के द्वारा अकृत की सिद्धि नहीं हो सकती।[३] बृहदारण्यक[४] और छान्दोग्य[५] में भी यज्ञों के प्रति व्यंग्यात्मक कटाक्ष किए गए। जहाँ उदारता का परिचय दिया गया वहाँ यागिक कृत्यों को पितृयान-प्रवेशक मान लिया गया।[६]

यागादि सकल कर्म विविदिषार्थ हैं, ब्रह्मज्ञानार्थ नहीं, अतः कर्मकाण्ड में व्यावहारिक प्रामाण्य ही है, यह श्रुति-प्रतिपत्ति है। उपक्रम एवं उपसंहार के ऐक्य आदि से[७] समस्त उपनिषदों का तात्पर्य 'आत्मैकत्व' में ही निश्चित होता है। 'बृहदारण्यक वार्त्तिकसार' में कथित है कि विज्ञान एवं आनन्द स्वरूप आत्मा ही ब्रह्म तथा वेदान्त-प्रमेय है।[८] शंकराचार्य की उक्ति है कि सम्पूर्ण

---

१ प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति॥
—मुण्डक उपनिषद् १।२।७

२ दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या।
—कठोपनिषद् १।२।४

३ परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो।
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन॥
—मुण्डक उपनिषद् १।२।१२

४ बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०; ३।९।२१

५ छान्दोग्य उपनिषद् १।१२।१; १।१०।१०,११

६ द्रष्टव्य :
(क) बृहदारण्यक उपनिषद् १।५।१६
(ख) छान्दोग्य उपनिषद् ५।१७।३
(ग) मुण्डक उपनिषद् १।२।१०; ६।२।१६

७ उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

८ विज्ञानमानन्दमिति ह्यात्मवेति श्रुतिस्तथा।

उपनिषदों की परिसमाप्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप के निरूपण में ही होती है।[१] प्रश्न-भाष्य में वे कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य एक आत्मा ही है और वही जिज्ञासुओं का ज्ञातव्य है।[२]

उपनिषदों में आत्म-तत्त्व का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है कि सारी सांवृत्तिक उपाधियाँ निराकृत हो जाएँ और तत्त्व मात्र का विमर्श हो। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और उनसे उत्पन्न होने वाले आनन्द की व्याख्या और विश्लेषण द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि ये सब आत्मा के भंगुर विकारी रूप मात्र हैं। आत्मा तो ग्राहक इंद्रियों, संकल्प-विकल्पात्मक मन, विश्लेषणात्मक बुद्धि और हमारी सत्ता के कारणभूत प्राणों से पृथक् है। कठोपनिषद् में यह तत्त्व बड़ी सुन्दरता से व्यञ्जित हुआ है।[३]

इस आत्मा में अस्ति-नास्ति रूप गति नहीं है क्योंकि आत्मा सम्पूर्ण विकल्पों की गति से रहित है। इसीलिए उपनिषद् सदा 'नेति नेति' कह कर उसका परिचय देती है—'स एष नेति नेति आत्मा।'[४] उपनिषदों में जहाँ ब्रह्म के स्वरूप का निर्वचन है, वहाँ 'न' अव्यय की बहुलता दृष्टिगत है।[५] पर यहाँ स्मरण रखना होगा कि 'नेति नेति' पद तत्त्व की अनिर्वचनीयता का ही निदर्शक है, उसकी अभावात्मकता या शून्यता का नहीं। कठोपनिषद् में तो स्पष्ट कथित है कि आत्मा 'अस्ति' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिए।

प्रमर्थस्यैव वेदान्तमेयत्वं प्रत्यपादयत्॥
—बृहदारण्यक वार्तिकसार १।१६४

१ सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैव उपक्षयात्।
—ईशावास्योपनिषद्, सम्बन्ध भाष्य।

२ अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तार्थो विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च।
—प्रश्न-भाष्य, ४।५

३ कठोपनिषद्, २।३।४

४ बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२२

५ द्रष्टव्य :
(क) ईशोपनिषद् ८
(ख) कठोपनिषद् ३।१५
(ग) मुण्डकोपनिषद्, १।१-४; ३।१-२; २।१४
(घ) बृहदारण्यक उपनिषद् ३।६।६

जिसे 'अस्ति' इस प्रकार की उपलब्धि हो गई है, तत्त्व-भाव उसके अभिमुख हो जाता है।[१]

उपनिषदों में, परमात्मा में प्रपञ्च की उभयकारणता का समर्थन मिलता है। मुण्डक में कथित है कि जिस प्रकार ऊर्णनाभ अपने शरीर से तन्तु प्रसृत करता है, जैसे पुरुष के केश लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से यह विश्व उत्पन्न होता है।[२] परन्तु, जब परम तत्त्व असंग, निरवयव एवं सुख-दुःख मोहातीत है तो उसमें सुख-दुख-मोहात्मक प्रपञ्च की स्थिति कैसे सम्भव है? परम तत्त्व के निरवयव होने से प्रपञ्च के साथ उसका कार्य-कारण-भाव, संयोग-सम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध भी नहीं अन्वित हो सकता। अतः मानना होगा कि दर्पण में प्रतिबिम्ब अथवा सीप में रजत की भाँति ही ब्रह्म में प्रपञ्च का आध्यासिक सम्बन्ध ही संगत है। यही विवर्त्तवाद का सिद्धान्त है जो उपनिषदों को मान्य है।[३]

---

१ कठोपनिषद् २।३।१३

२ मुण्डक उपनिषद् १।१।७

३ We must remember that the orthodox view of the Vedanta is not what we should call evolution, but illusion. Evolution of the Brahman or parinama is heterodox. illusion or vivarta is orthodox Vedanta....To put it metaphorically, the world according to the orthodox Vedantian does not proceed from Brahman as a tree from germ, but a mirage from the rays of the sun.

—Max Muller—'Sacred Book of the East' Vol. XV p. II

This doctrine of the illusion of all appearances of reality follows naturally from the repeated teachings in the Upanisads regarding the non-duality of Self or Atman or Brahman as the sole reality of Universe.

—Fraser : Indian Thought, p. 68.

The argument that all objects are unreal and only the subject that is the Constant witness self is real, is suggested in some Upanisads and developed with negative results in Buddhistic thought.

—S. Radhakrishnan : 'Indian Philosophy. Vol. II. p. 475

यहीं हापकिन्स तथा भण्डारकर आदि के मतों को असारता भी प्रमाणित हो जाती है, जिन्हें उपनिषदों में विवर्त्त-सिद्धान्त का सद्भाव इष्ट नहीं है।[१]

उपनिषदों में भावना और प्रयोजन की एकता को लक्षित करना यद्यपि कुछ दुष्कर नहीं है, परन्तु विशेष-विशेष सिद्धान्तों में मतभेद के लिए प्रचुर अवकाश है। किन्तु श्रुति के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विरोध अथवा असंवाद की कल्पना अशक्य है। अतः अनेक सूत्रकारों ने उपनिषदों को परस्पर विरोधी-सी दीख पड़ने वाली उक्तियों में संवाद और अविरोध स्थापित कर श्रुति के निर्णीतार्थ को स्पष्ट करने का उद्योग किया। प्राचीन मूल और आर्ष वेदान्त का सफल प्रतिनिधित्व करने के नाते महर्षि बादरायण का ब्रह्म-सूत्र ही सूत्र-ग्रन्थों की परम्परा में अवशिष्ट और सुरक्षित रह सका।[२]

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्', 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः', 'प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः' इत्यादि सूत्रों में सूत्रकार ने प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुरूप ब्रह्म को जगत् की प्रकृति स्वीकार किया है और कार्य-वर्ग की आत्म-व्यतिरिक्त स्वतंत्र और पृथक सत्ता का खण्डन किया है। अध्यास और

---

१ Is there anything in the early Upanisads to show that the authors believed in the objective world being an illusion? Nothing at all?

—Hopkins : J. A. O. S. xxii p. 385.

The opinion expressed by some eminent scholars that the burden of the Upanisadic teaching is the illusive character of the world and the reality of one soul only is manifestly wrong, and I may even say is indicative of an uncritical judgement.

—R. G. Bhandarkar : Vasnavism, p. 2. F. N.

२ It is reasonable to think that, apart from the gradual evolution of the Sutras, as we have seen them now, the author of the nucleus of these sutras even was not furrowing a virgin soil. Other tentative attempts had been made before them to construe a philosophy of the Upanishads.

—U. C. Bhattacharya : Proceedings of the fifth I. O. Conference, p. 812.

विवर्त्त का सिद्धान्त सूत्रकार को मान्य है।

'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' सूत्र में विवर्त्तवाद का स्पष्ट व्याख्यान है।[१] इसी सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—'अनेन स्फुटितो मायावाद :।'

ब्रह्मसूत्र इतने स्वल्पाक्षर और अर्थ की दृष्टि से इतने कूट और विविधार्थ है कि स्वतंत्र रूप से इनके तात्पर्य का निर्णय कर लेना, कुछ सुकर नहीं। अतः सूत्रों की वृत्ति, वार्त्तिक और भाष्य के रूप में वेदान्त की परम्परा पुरस्सर हुई। सभी भाष्यकारों ने परस्पर प्रतियोगितापूर्वक यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया कि उनका ही भाष्य श्रुति और सूत्रों के तात्पर्य के अनुकूल है। प्रत्येक भाष्यकार एक-एक वेदान्त-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक बन गए और सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यों द्वारा निर्मित भाष्य ही तत्तत सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल उपजीव्य के रूप में प्रसिद्ध हैं।

जीव और ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचुर मतभेद हैं। जीव और ब्रह्म के भेद, अभेद और भेदाभेद स्थापित करने वाले विभिन्न मत हैं जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध है, शङ्कर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

सुसंगता, समग्रता और अगाधता की दृष्टि से शंकराचार्य का दर्शन परम प्रकर्ष पर स्थित है।[२] उन्होंने वेदान्त-दर्शन का ऐसा साङ्गोपाङ्ग, विशद और

---

१ The Sutrakar adopts the 'Vivartavada' (i. e. the principle of unity as of supreme value) ; but he has also retained 'Parinama' (i. e. the fact of multiplicity of changes) as of subordinate value and entirely dependent on the former.

—Kokileswar Sastri : Advaita Vedanta.

२ The doctrine advocated by Samkara is, from a purely philosophical point of view, and apart from all theological considerations, the most important and interesting one which has arisen on Indian soil; neither those forms of the vedanta which diverge from the view represented by Samkara, nor any of the non-vedantic systems can be compared with the so-called orthodox Vedanta in boldness, depth and subtelty of speculation.

—Thibut : Introduction to B. S., p. xiv

संशयोच्छेदक व्याख्यान प्रस्तुत किया कि उनके बाद वेदान्त-दर्शन और शङ्कर दर्शन दोनों समानार्थक-से हो गए।[१] डा० राधाकृष्णन के शब्दों में शङ्कराचार्य का दर्शन स्वयं में पूर्ण तथा पूर्वापर निरपेक्ष है और एक कला-कृति की स्वतः सिद्ध पूर्णता रखता है।[२]

जिस समय भगवान् शङ्कराचार्य का अवतरण हुआ अवैदिक सम्प्रदायों के प्रचार से श्रुतिसम्मत सिद्धान्तों का स्वरूप ओझल सा हो गयाथा। शङ्कराचार्य ने अपने प्रसन्न-गम्भीर व्याख्यानों द्वारा न केवल द्वैत-मतों का अपितु भ्रान्त अद्वैत मतों का भी खण्डन कर श्रुतिसम्मत निर्विशेष तत्त्व का प्रतिपादन किया।

अद्वैतवाद का प्रवाह बहुत पुरातन है। शङ्कर के पूर्ववर्त्ती कई आचार्य और प्राचीन वेदान्त-सूत्रकारों में भी कोई-कोई अद्वैतवादी थे। उदाहरण के लिए ब्रह्मदत्त अद्वैतवादी ही थे।[३] उनका मत है—'एकं ब्रह्मैव नित्यं तदितराखिलं तत्र जन्मादिभाग्' इत्यायातम्, तेन जीवोऽपि अचिदिव जनिमान्।'[४] अद्वैतवादी द्रविड़ाचार्य का उल्लेख तो स्वयं शङ्कराचार्य ने 'आगमवित्' और 'सम्प्रदायवित्'[५] कह कर किया है। ब्रह्मसूत्र के समन्वयाधिकरण भाष्य के उपसंहार में[६] शङ्कराचार्य ने सुन्दरपाण्डय के वार्त्तिक से तीन अद्वैतपरक श्लोक उद्धृत किए हैं। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इन श्लोकों को 'ब्रह्मविदां गाथा' कह कर उल्लिखित किया है।

श्री हर्ष ने नैषध-चरित[७] में बुद्ध को 'विधूतकोटि-चतुष्क अद्वयवादी' कहा

---

१ The philosophy of Samkar is the Vedanta par excellence.
—P. N. Sen : 'Philosophy of the Vedanta', P. 6

२ His philosophy stands forth complete, needing neither a before nor an after. It has a self-justifying wholeness characteristic of works of art.
—S. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II, p. 446.

३ देखिए, नैष्कर्म्य सिद्धि, १।६८

४ तत्त्वमुक्ताकलाप की सर्वार्थसिद्धि टीका, २।१६

५ देखिए, माण्डूक्योपनिषत् २।३२ और २।२० पर शाङ्कर भाष्य

६ ब्रह्मसूत्र भाष्य १।१।४

७ नैषध-चरित, १६।८८

है। बौद्धों के दो सम्प्रदाय शून्यवाद तथा विज्ञानवाद में प्रकट रूप से अद्वैतवाद का समर्थन मिलता है। भवभूति भी विवर्त्तवाद से परिचित थे जैसा कि 'उत्तररामचरित' में उनकी 'ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः' उक्ति से सिद्ध है।

'हर्षचरित'[१] तथा जयन्त भट्ट कृत 'न्यायमञ्जरी'[२] में शाब्दिकों के सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार पश्यन्ती वाक् शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म का ही वाचक है जो उनके मत से देश-काल-परिच्छेद विरहित अनवच्छिन्न अद्वय परमतत्त्व है। भर्तृहरि भी अद्वैतवादी थे[३], उनके व्याकरण विषयक ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' की रचना अद्वैतसिद्धान्त को ही उपजीव्य मान कर हुई है।

भर्तृहरि का मत है कि अविभक्त परमार्थ तत्त्व विकार-रहित रूप से अवस्थित है। परमार्थतः उसका परिणाम नहीं है। अविद्या रूप अन्धकार से जिनके बुद्धिरूप नेत्र उपहत हैं वे ही नील आदि भेद से विचित्र सदृश मानते हैं :

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
संकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभि मन्यते॥
तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्ततः॥

उक्त कारिकाओं का परिणामवाद के अनुरूप व्याख्यान और शब्द ब्रह्मवादियों का परिणामवादी दार्शनिकों में परिगणन नितान्त निरावलम्ब है।

भगवान् पाणिनि का व्याकरण भी अद्वयवादी दर्शन है। 'जनी प्रादुर्भावे', 'णश् अदर्शने' और 'अदर्शनं लोपः' आदि सूत्रों की व्याख्या से उपर्युक्त मत प्रमाणित हो जाएगा।

प्रत्यभिज्ञादर्शन और स्पन्ददर्शन के नाम से प्राचीन शिवाद्वयवाद तो प्रसिद्ध

---

१ हर्षचरित, जीवानन्द संस्करण पृ० ६३२

२ न्यायमञ्जरी, पृ० ५३१-५३६

३ महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरप्यद्वैतमेवाभ्युपगच्छति यथोक्तं शब्द कौस्तुभे स्फोटवादान्ते—तदेवं पक्षभेदे अविद्यैव वा ब्रह्मैव वा स्फुटत्यर्थोऽस्मादीति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम्। आह च—शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।

—उमामहेश्वर : 'तत्वदीपिका'

ही है।

पर ये समस्त अद्वैतवाद स्वरूप और सिद्धान्त में अपनी-अपनी पृथक् और विशिष्ट सत्ता रखते हैं। शङ्कराचार्य और उनके परम गुरु गौड़पाद के मत से उनका मत भिन्न है। इन प्राचीन अद्वैतवादियों से शङ्कराचार्य का मत कहाँ अपनी विलक्षणता रखता है, इस विषय की सम्यक् आलोचना के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ अपेक्षित है। यहाँ इतना ही निर्देश अलम् होगा कि शङ्कराचार्य का दर्शन इन सब से भिन्न, विशिष्ट और स्वतंत्र विकास का निदर्शक है। पूर्ववर्त्ती इन मतों में से बहुतेरे का शङ्कर ने अपने भाष्यों में उच्छेद किया है।

शङ्कराचार्य का ब्रह्मसूत्र भाष्य अथवा शारीरक भाष्य ब्रह्मसूत्र की उत्कृष्टतम व्याख्या के रूप में प्रसिद्ध है। पर इस भाष्य पर वितथाख्यान का आरोप लगाते हुए शारीरक भाष्य के स्वरचित अनुवाद की भूमिका में डा० थीबो ने लिखा है कि 'बादरायण के दार्शनिक सिद्धान्त शङ्कराचार्य के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है। शङ्कर ने अपने शुष्क निर्विशेष अद्वैतमत के प्रचार के लिए[१] सूत्रकार के ऊपर अपने मत का आरोप किया है।'

यहाँ एक तथ्य उल्लेख्य है। अन्यान्य विद्वानों[२] की ही भाँति डा० थीबो ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि शङ्कराचार्य उपनिषदों के सफलतम

---

१ इस प्रकार की आलोचनाएँ कुछ नई नहीं हैं। भास्कर ने भी शङ्कराचार्य पर ऐसा ही आरोप लगाते हुए कहा था कि शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में सूत्रकार के अभिप्राय को संवृत कर अपने ही अभिप्राय को प्रकाशित किया है:

सूत्राभिप्राय संवृत्या स्वाभिप्राय प्रकाशनात्।
व्याख्यातं यैरिदं शास्त्रं व्याख्येयं तन्निवृत्तये॥

२ The greatest expositor of the philosophy of the Upnisads is Samkara or Samkaracharya. The teaching of Samkara himself is the natural and legitmate philosophy of the Upanisads.

—Gough : 'Philosophy of the Upanisads', preface p. viii.

It may be admitted that if the impossible task of reconciling the contradictions of the Upanisads and reducing them to a harmonious and consistent whole is to be attempted at all,

व्याख्याकार हैं।[१] ऐसी स्थिति में डा० थीबो के उपर्युक्त दोनों निर्णयों का-यही निष्कर्ष निकलता है कि शङ्कराचार्य ने उपनिषदों के अभिप्राय को सूत्र कार की अपेक्षा अधिक यथार्थ रूप में समझा। पर इस मत को स्वीकार करने का अर्थ होगा, उस परम्परा को अस्वीकार करना जो सूत्रों को उपनिषदों का व्यवस्थित समन्वय मात्र मानती है। इसी परम्परा पर आस्था रख'कर शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों को 'वेदान्त वाक्य कुसुम ग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्'[२] माना है।

विप्रतिपन्न आलोचक चाहे जो आरोप करें, पर यहनिर्विवाद है कि शङ्कराचार्य प्राचीन आर्ष वेदान्त के एकमात्र प्रतिनिधि हैं।

शङ्कराचार्य के मत से आत्मा सम्पूर्ण जीवों का प्रत्यक्चेतन और स्वसंवेद्य है।[३] वह प्रमाण आदि समस्त व्यवहारों का आश्रय है, अतः इन व्यवहारों से पूर्व ही उसकी सिद्धि है।[४] आत्मा का निराकरण सम्भव नहीं है[५] क्योंकि जिसे इसका निराकरण इष्ट है, वह स्वयं आत्म-स्वरूप है।[६]

आत्मा से भिन्न अनात्म वस्तु तथा उससे भिन्न देश-काल में रहने वाली को भी सूक्ष्म व्यवहित दूरस्थ अथवा भूत, भविष्य या वर्त्तमानकालीन वस्तु नहीं है। सम्पूर्ण अवस्थाओं से सम्बन्धित नाम-रूप ब्रह्म से ही आत्मवान

Samkar's system is about the only one that could do it.

—Colonel Jacob : Introduction to the 'Vedantasara'

So far as the classical Upanisads are concerned, it must be said that Samkara's view is representative of their main tendency.

—S. Radhakrishnan : Indian Philosphy Vol. II p. 467.

१ The task of reducing the teaching of the whole of the Upanisads to a system consistent and free from contradiction is an intrinsically impossible one. But the task once given, we are quite ready to admit that Samkara's system is most probably the best that can be derived.

—Thibut : Introduction to S. B.

२ शारीरक भाष्य १।१।२

३ छान्दोग्य भाष्य ८।१४।१

४ शारीरक भाष्य २।३।७

५ वही

६ वही

हैं।[१]

बृहदारण्यक भाष्य में आचार्य कहते हैं कि सर्वगत और निरवयव ब्रह्म के विषय में गति और प्रवेश का उत्पादन असम्भव है। अतः सृष्टि और प्रवेश सम्बन्धी श्रुतियों की उपपत्ति ब्रह्म के साथ जगत् के एकत्व का प्रतिपादन और भेद-दर्शनों के खण्डन में है।[२]

इस जगत-रूप प्रपञ्च का उपादान ब्रह्म से अतिरिक्त कोई नहीं है, इसलिए यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है; उससे व्यतिरिक्त कुछ नहीं![३] पुनः आचार्य कहते हैं कि वेदान्त में जगत् की उत्पत्ति और लयादि की कल्पना का तात्पर्य सृष्टि-प्रलय-क्रम का निरूपण नहीं अपितु ब्रह्म के साथ जगत् के एकत्व-प्रत्यय को दृढ़ करना है।[४]

नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त विज्ञानस्वरूप ईश्वर हो जिसका अन्तर्यामी है, जो स्वयं नित्य विज्ञान का अवभास चित्त, चैत्य, बीज और बोजी से तादात्म्य को प्राप्त हो कर तद्रूप हो गया है तथा जो कल्पित, अनित्य विज्ञानवान् और ईश्वर के लक्षण से विपरीत है, वही बाह्य जीव हैं; जिसके इस औपाधिक स्वरूप के विच्छेद से संसार-व्यवहार एवं अविच्छेद से मोक्ष-व्यवहार होता है।[५] पर, आचार्य कहते हैं कि जीव के स्वरूप के परामर्श का प्रयोजन जीव का स्वरूप-निरूपण नहीं है अपितु परमेश्वर के स्वरूप-निरूपण में ही इसका पर्यवसान है।[६]

अध्यास का निरूपण करते हुए शारीरक भाष्य के उपोद्घात् में आचार्य कहते हैं—'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट का अन्य में अवभास ही अध्यास है। शंकराचार्य कहते हैं कि अध्यास के लक्षण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं परन्तु किसी भी मत में 'अन्य में अन्य के धर्म का अवभास' इस लक्षण का व्यभिचार नहीं होता। आत्मा और अनात्मा के परस्पर के अध्यास को निमित्त मान कर ही लौकिक और वैदिक प्रमाण-प्रमेय का व्यवहार प्रवृत्त हुआ है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्त्तक यह अध्यास स्वाभाविक, अनादि तथा अनन्त है।

---

१ तैत्तिरीय भाष्य २।६
२ बृहदारण्यक भाष्य २।१।२०
३ अपरोक्षानुभूति, ४५
४ बृहदारण्यक भाष्य २।१।१०
५ केन वाक्य-भाष्य ३।१
६ शारीरक भाष्य १।३।२०

ख्याति (भ्रम-ज्ञान) में पाँच प्राचीन मतभेद हैं। शंकर अनिर्वचनीय ख्याति-वादी हैं। वे कहते हैं कि माया न सत् है न असत् और न सद्सत् उभयरूप ही; न भिन्न है न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न उभयरूप ही; न अङ्गसहित है न अङ्गरहित है और न साङ्गानाङ्ग उभयात्मिका ही, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीया रूप प्रसिद्ध है।[१] पर यहाँ स्मरण रखना होगा कि शङ्कर जगत् को अनिर्वचनीय मानते हुए भी नागार्जुन, ब्रैडले अथवा श्री हर्ष के समान अव्याख्येय नहीं मानते।[२]

शारीरक भाष्य में आचार्य कहते हैं कि प्रत्यक्ष विषयों की भाँति ब्रह्म का कोई रूप नहीं है, अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। लिङ्गादि के अभाव के कारण यह अनुमान का भी विषय नहीं है अतः आगम मात्र एक इसके अधिगमन का साधन है।[३] बृहदारण्यक भाष्य में कथित है कि श्रुति का मूल्य और महत्व उसके अन्तर्निहित सत्य का प्रतीक होने के कारण है, श्रुति उस सत्य का कारक नहीं ज्ञापक मात्र है।[४] शारीरक भाष्य में आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि यदि श्रुति और युक्ति में संवाद न हो तो हमें युक्ति को ही प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि श्रुति की अपेक्षा युक्ति अनुभव के अधिक निकट है।[५]

आचार्य कहते हैं कि आत्म-तत्त्व के यथार्थ ज्ञान से अज्ञान के बीज का उच्छेद ही आत्मा का मोक्ष है और उसके विपरीत का नाम बन्ध है। बन्ध और मोक्ष दोनों ही बुद्ध्यादि उपाधि-विशिष्ट स्वरूप की अपेक्षा से हैं।[६] परमात्मा की प्राप्ति और उसके ज्ञान के अर्थ में कोई भेद नहीं है क्योंकि अविद्या की निवृत्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है।[७] जिसमें कर्त्ता-कारण आदि कारक-विशेषों

---

१ विवेक चूड़ामणि, १११

२ द्रष्टव्य :
(क) शारीरक भाष्य, १।२।२; २।१।३६; २।२।१
(ख) बृहदारण्यक भाष्य १।४।१०; २।१।२०
(ग) कठ भाष्य ६।२
(घ) केन भाष्य १।४

३ शारीरक भाष्य २।१।६

४ बृहदारण्यक भाष्य १।४।१०

५ शारीरक भाष्य, २।१।४

६ केन वाक्य-भाष्य ३।२

७ मुण्डक भाष्य, १।१।५

का पूर्णतया लय हो जाता है, उस ब्रह्मतत्त्व को विषय करने वाली विद्या साधन-साध्य कर्म से विरुद्ध है। एक ही वस्तु परमार्थतः कर्त्ता आदि विशेष से युक्त और उससे रहित—दोनों ही प्रकार से नहीं देखी जा सकती।[१] इसीलिए आचार्य कहते हैं कि ज्ञान और कर्म का विरोध पर्वत के समान अचल है।[२]

छान्दोग्य भाष्य में शंकर कहते हैं कि आत्म-सिद्धि एक अद्वैत भाव है जो केवल अनुभव से साध्य है।[३] शारीरक भाष्य में कथित है कि ब्रह्म-ज्ञान का अनुभव में ही पर्यवसान होता है।[४]

इसी क्रम में शंकर और रामानुज के सिद्धान्तों की भेदकता को पहचान लेना भी युक्त होगा।

शांकर मत में एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, तदतिरिक्त समस्त दृश्य प्रातिभासिक है, परन्तु रामानुज मत में चिद्चिदशरीर विशिष्ट ब्रह्म सत्य है। ब्रह्म तथा उसके शरीररूप जीव और जगत् से पृथक् कुछ भी नहीं है।

शांकर मत में ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत त्रिविध-भेद-शून्य है, परन्तु रामानुज मत में वह सजातीय-विजातीय-भेद शून्य होने पर भी स्वगत-भेद युक्त है।

शांकर मत में ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है, परन्तु रामानुज मत में वह सविशेष तथा सगुण ही है। स्वभावतः उसमें कल्याण-गुणों का सद्भाव है। वह प्राकृत हेय गुणों से विवर्जित है।

शांकर मत में ब्रह्म ही माया-उपाधि से ईश्वर और अविद्या उपाधि से जीव कहा जाता है। जड़-जगत् प्रातिभासिक है। अतः तत्त्व एक ही है। शंकर कहते हैं कि एकाधिक पृथक् आध्यात्मिक सत्ताएँ अकल्पनीय हैं। रामानुज के मत में ब्रह्म ही ईश्वर हैं, उसके शरीरभूत जीव और जगत् उससे पृथक् तथा नित्य सत्ताशील हैं। अतः तत्त्व तीन हैं, एक नहीं।

शंकराचार्य कहते हैं कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' आदि वचनों के साक्ष्य से ब्रह्म का एकत्व और अद्वितीयत्व सिद्ध है। पर, रामानुज के मत से 'बृह बृंहि, वृधौ' इस धातु के साथ मनिन् प्रत्यय होने से, इस एक में तीन का अन्तर्भाव हो जाता है।

---

१ तैत्तिरीय भाष्य १।११
२ ईश भाष्य, २
३ छान्दोग्य भाष्य १।१।१
४ शारीरक भाष्य १।१।२

रामानुज मत में जीव अणु, परिच्छिन्न और ईश्वर का अंश है। उसकी व्यक्तिगत सत्ता और परिच्छेद अक्षुण्ण है। शांकर मत में जीव तत्त्वतः विभु है और उसका परिच्छेद सांवृत्तिक है।

शंकर और रामानुज दोनों के लिए जगत् एक दुर्निवार और अनिषेध्य सत्य है। पर शंकर के लिए ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध एक रूपक मात्र है, क्योंकि प्रपंच तथा प्रपंचोपशम, मित और अमित के मध्य किसी भी सम्बन्ध की कल्पना शक्य नहीं। परन्तु रामानुज के लिए जगत् और सृष्टि एक तात्त्विक सत्य है। शंकर के लिए ब्रह्म के साथ अपृथक्तादात्म्यभाव से जगत् की सत्ता है, रामानुज के लिए वह वास्तविक सृष्टि है। अतः वह स्वतंत्र सत्य है।

४

तुलसी का दार्शनिक मतवाद शंकर के मत से अत्यधिक आसन्नता रखता है। शांकर-सिद्धान्त को यथार्थ रूप में हृदयङ्गम करने वाले तुलसी पहले कवि थे, यह बात नहीं, पर उन अक्षर-सिद्धान्तों को क्षर-छन्द-देह में अवतारणा कर उसे लोक-संवेद्य रूप देने में वे अन्यतम हैं।

मानस का दर्शन मूलतः अद्वैतपरक है और उसमें अद्वैत के व्यावहारिक पक्ष का ऐसा मङ्गलमय विनियोग हुआ है जो संस्कृत वाङ्मय में भी 'भागवत' के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है।

तुलसी के इस व्यवहार के नाते ही विप्रतिपन्न तत्त्वान्वेषियों को उनके सिद्धान्त में अद्वैतेतर मत की उपपत्ति के प्रतिपादन का साहस हुआ। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि अद्वैत का विशिष्टाद्वैत आदि मतों से कोई विरोध नहीं हैं। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि की अपेक्षा उत्कृष्ट भूमिका है और अद्वैत-पक्ष में व्यवहार के स्तर पर विशिष्टाद्वैत मत का अन्तर्भाव हो जाता है। पर विशिष्टाद्वैत आदि मत अद्वैत को परमार्थ नहीं मानते, अतः अद्वैत मत से उनका विरोध है।

तुलसी तत्त्वतः अद्वैतवादी ही हैं। जहाँ उनके काव्य में परस्पर विरोधी सी दीख पड़ने वाली उक्तियाँ मिलें, उनमें इस प्रकार संवाद स्थापित किया

जा सकता है कि विशिष्टाद्वैतपरक वचन तो व्यवहार-दशा के अनुरोध से हैं और अद्वैतपरक वचन तात्त्विक सिद्धान्त के उपन्यास की दृष्टि से। व्यवहार और परमार्थ का यह भेद-निरूपण वेदान्त में ही नहीं अपितु विश्व के सभी अद्वैतवादी दार्शनिकों में मिलेगा। पाश्चात्य दार्शनिकों में पार्मेनाइडीज में 'Opinion' और 'Truth', हेरेक्लाइटस में 'Way Down' और 'Way Up', प्लेटो में 'Sense' और 'Idea' स्पिनोजा में 'Sub Specie Temporis' और Sub Specie Aeternitatis', कान्ट में 'Phenomenon' और 'Nounenon', हेगल में Illusion' और 'Realility' और ब्रैडले में 'Appearance' और 'Realiy' तथा भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत माध्यमिकों में 'संवृति' और 'परमार्थ' एवं योगाचार मत में 'परतन्त्र' और 'परिनिष्पन्न' के प्रसिद्ध भेदों से दर्शन-शास्त्र के अध्येता सुपरिचित हैं।

तुलसी के मत से ब्रह्म वेदादि-शास्त्रैक-समधिगम्य, अदृश्य, अव्यपदेश्य, सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, त्रिविधपरिच्छेदशून्य, सविकल्प बुद्धि के विकल्पों और तर्क की ऊहा के परे तथा निर्विकल्प अतीन्द्रिय अनुभूति द्वारा ही सम्वेद्य है।

ब्रह्म जगत का प्रभव भी है और प्रलय भी। उसी के द्वारा एतत्समस्त आवृत, संवृत और विधृत है। वह जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। पर वह परिणामी उपादान नहीं है। विवर्ताश्रयरूप उपादानता अर्थात् अधिष्ठानत्व ही ब्रह्म में अभीष्ट है।

श्रुति के परमतत्त्व और दशरथ-सुत राम में कोई भेद नहीं है। गोस्वामी जी ब्रह्म के निर्विशेष रूप को ही तात्त्विक मानते हैं पर निर्विशेष तत्त्व अव्यवहार्य है, अतः उन्हें अपने प्रयोजन की व्यावहारिकता के लिए सगुण स्वरूप का अवलम्बन इष्ट हुआ।

ब्रह्म कूटस्थ अपरिणामी और एकरस है और उसी आस्पद में चित्त अध्यास से प्रपञ्च का आरोप करता है। यही अविद्या या माया है। विद्या और अविद्या भेद से माया द्विविध है। अविद्या माया की आवरण-विक्षेपात्मक दो शक्तियाँ हैं। समस्त दृश्य-प्रपञ्च माया-जन्य होने के कारण मिथ्या है। 'आकाश में रज, धूम, तुषार और नीलता आदि भ्रान्ति के समान यह सब क्रिया, कारक और फलरूप संसार अहंकार, ममता, यत्न और इच्छा आदि का मिथ्याध्यास ही है।'

जीव तत्त्वतः असंसारी है, संसार उसमें अविद्या के कारण अध्यस्त है। व्यवहार-दशा के अनुरोध से जीव 'हर्ष-विषाद' आदि का आश्रय तथा पारभौतिक उपाधिविनिर्मुक्त दृष्टि से वह 'चेतन अमल सुखराशि' है।

जीव की कल्पित परिच्छिन्न सत्ता का एक अनन्त अपरिच्छिन्न आध्यात्मिक चेतना में पर्यवसान ही मोक्ष है। नित्य अमरत्व अनित्य कर्म द्वारा उत्पाद्य नहीं है।

भक्ति परमार्थरूपा, निरपेक्ष और समस्त साधनों का सुफल है—यही सारे सिद्धान्तों का निर्णीतार्थ और अ० भिचारी सिद्धान्त है।

ज्ञान मोक्षप्रद है, पर उसका साधन-पथ दुर्गम और अपायसंकुल है। यों, 'ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा।' ज्ञान यदि अद्वैतरूप है तो भक्ति भी अनन्यरूपा है। वेदान्त में जो अपरोक्षानुभूति के नाम से कीर्तित है, वही पराभक्ति है। यही पराभक्ति, जो पर-ज्ञान से अ भन्न है, गोस्वामी जी का प्रतिपाद्य है।

५

तुलसी का 'मायावाद' शाङ्कर 'मायावाद' की ही प्रतिकृति है। पर 'गोस्वामी तुलसीदास' के लेखकद्वय श्री श्यामसुन्दरदास और डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल तुलसी की 'माया' को शङ्कराचार्य की माया से भिन्न मानते हैं। उनका कथन है कि शङ्कर के लिए रचना भ्रम मात्र है, तुलसी के लिए यह एक तथ्य है।[१]

अनुसन्धान की दृष्टि से उपर्युक्त मत अशुद्ध है। एक तो गोस्वामी जी ने ही सृष्टि-रचना को नट का इन्द्रजाल कहा है[२]; दूसरे स्वतः शङ्कराचार्य भी जगत् को एकदम तुच्छ, अलीक या असत् नहीं मानते।

शंकराचार्य जहाँ जागरित दृश्य को स्वप्नवत् कहते हैं, वहाँ उनका यही अभिप्राय है कि जागरित और स्वप्न दोनों ही अवस्थाओं में अनुभूत विषय आत्मा में इस रूप में 'अध्यारोपित' होते हैं कि आत्मा विषयों से तदाकार अनुभूत होता है। बहिरङ्ग विषय प्रत्यगात्मा के आत्म-भूत सदृश प्रतीत होते हैं और आत्मा को अस्पृष्ट विविक्त सत्ता विस्मृत हो जाती है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि ये

---

१ 'गोस्वामी तुलसीदास' : बाबू श्यामसुन्दरदास और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० १८७

२ द्रष्टव्य : मानस, उत्तर० ७२

अध्यारोपित अवस्थाएं तत्त्वतः 'अविद्यमान' हैं।

शङ्कराचार्य विषयानुभवों और वृत्तियों-विकल्पों को मिथ्या मानने के पक्ष में नहीं हैं, पर आत्मा में उसके आध्यारोप को वे मिथ्या मानते हैं। शङ्कराचार्य के एक उद्धरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा :

'यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादीनामसत्त्वंतथा स्वप्नदृश्यानामपि स्थानिकधर्मत्वमेवेति असत्वम्।'

'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' सूत्र के भाष्य में स्वप्न और जागरित सृष्टि के स्वाभाविक वैधर्म्य को निरूपित करते हुए शङ्कराचार्य ने कहा है कि स्वप्न और जागरित स्थितियाँ परस्पर एक दूसरे से बाधित होती हैं। उन दोनों भिन्न प्रकार के अनुभवों को एक कोटि में कैसे परिगणित किया जा सकता है ? स्वप्न-स्थिति के दृश्य स्मृति के कार्य हैं और जागरित-स्थिति के दृश्य प्रत्यक्ष अनुभूत हैं। विद्यमान और स्वप्नगत वस्तुओं की अनुभूति को परस्पर भिन्न ही मानना होगा।[१]

ईश्वर के लिए मायावी का उपमान शङ्कराचार्य की रचनाओं में बहुधा मिलता है।[२] इस उपमान का प्रयोग शङ्कराचार्य ने अपनी सृष्टि द्वारा अस्पृष्ट रहने वाले ब्रह्म के अविकार्य रूप के समर्थन के लिए किया है :

'यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि काले न संस्पृश्यते।'[३]

तुलसीदास भी इसी अभिप्राय से कहते हैं :

जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥[४]

शङ्कराचार्य अनिर्वचनीय ख्यातिवादी हैं। 'केशव कहि न जाइ का कहिए' पंक्ति से आरम्भ होने वाला 'विनय पत्रिका' का प्रसिद्ध पद तुलसी के पूरे साहित्य में अजातवाद और अनिर्वचनीयवाद के समर्थन का उत्कृष्टतम उदाहरण है।

तुलसीदास कहते हैं कि संसार एक ऐसे चित्र के सदृश है, जो चित्रकार के द्वारा बिना रंगों की सहायता से शून्य भीति पर अङ्कित है। एक कश्मीरी कवि के अधोलिखित श्लोक से तुलसी की उक्ति की समानान्तरता लक्षित

---

१ द्रष्टव्य : शारीरिक भाष्य २।२।९

२ द्रष्टव्य : शारीरिक भाष्य १।१।१७; २।१।९; २।१।२१

३ वही, २।१।७

४ मानस, उत्तर० ७२

होती है :

निरूपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघाय शूलिने ॥

सम्भव है तुलसी को अपनी प्रेरणा इन्हीं कश्मीरी कवि से अथवा विद्यारण्यकृत 'पंचदशी' के प्रसिद्ध 'चित्रदीप प्रकरण' से प्राप्त हुई है ।

जगत् की अनिर्वचनीयता का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ।

जगत् सत् तो है नहीं, क्योंकि अज्ञान पर्यन्त ही इसकी सत्ता है और प्रतीयमान होने से इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता । सद्रूपता और असद्रूपता नितान्त विरुद्ध धर्म हैं, वे एकत्र नहीं रह सकते । यदि दोनों धर्मों का एकत्र विधान शक्य हो तो 'इदं रजतम्' ज्ञान को न तो भ्रान्ति ही माना जा सकेगा और न ही इसका बाध हो सकेगा, क्योंकि तब तो दोनों ही ज्ञान पारमार्थिक होंगे ।

अतः अनिर्वचनीयता ही सिद्ध है । यह कथन कि परस्पर विरुद्ध 'सत्यत्व' और 'असत्यत्व' के विरोधों का समुच्चय शक्य नहीं, क्योंकि दोनों में एक का निषेध करने पर दूसरे का विधान अनिवार्य हो जाता है, अनुपपन्न है, क्योंकि दोनों निषेधों का तात्त्विक समुच्चय तो अनिर्वचनीयतावादी को भी अमान्य है । तत्त्वतः भाषा के परिच्छेद के कारण ही 'सदसद् विलक्षण' पद प्रयुक्त होता है । सदसद्विलक्षणत्व भी पारमार्थिक नहीं है; क्योंकि जो प्रपञ्च स्वरूपतः अनिरूप्य—'कहि न जाइ क्या कहिए'—है, उसमें कोई भी धर्म वास्तविक कैसे हो सकता है ? श्री चित्सुखाचार्य कहते हैं कि 'जहाँ-जहाँ विरोधी धर्मों में से किसी एक का निषेध होता है, वहाँ-वहाँ दूसरे धर्म की अनिवार्य विधि होती है'—यह व्याप्ति अनिर्वचनीयवादी के प्रति असिद्ध है ।

विवर्त्तवाद का सिद्धान्त तुलसी को मान्य है । शिव-पार्वती-संवाद में तुलसी ने विवर्त्तवाद के अनेक दृष्टान्त उदाहृत किए हैं । यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि विवर्त्तवाद का सिद्धान्त शंकरेतर किसी वेदान्त-सम्प्रदाय को मान्य नहीं है । मतान्तरवादी तो इन दृष्टान्तों को सुन कर खीझ से उठते हैं ।

पर दार्शनिक दृष्टि से इस विवर्त्तवाद का बड़ा महत्व है । इसके माध्यम से सभी आर्ष-वचनों में सम्वाद की योजना हो जाती है ।

ब्रह्म की अविकार्यता को अक्षुण्ण रखते हुए सृष्टि की व्याख्या विवर्त्तवाद की प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है ।

प्रायः यह आपत्ति की जाती है कि भक्ति और अद्वैत सिद्धान्त में कोई

संवाद नहीं स्थापित किया जा सकता क्योंकि भक्ति-सिद्धान्त में भजनीय और भजन करने वाले का भेद बना रहता है, परन्तु अद्वैत-ज्ञान के क्षेत्र में तो अभेद की निष्ठा ही विवक्षित है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि साधनावस्था में तो सर्वत्र भेद रहता है। यदि भक्ति-मार्ग में भक्त और भजनीय भिन्न हैं तो ज्ञान-मार्ग में भी ज्ञाता-ज्ञेय, श्रोता-श्रोतव्य, मन्ता-मन्तव्य, ध्याता-ध्येय आदि का भेद उपपन्न है। ज्ञान जब तक परोक्ष रहेगा, यह भेद बना रहेगा। ज्ञान की अपरोक्षता सिद्ध होते ही, ये भेद विगलित हो जाते हैं। वैसे ही भक्त का भी जब भगवान् के साथ सम्पूर्ण ऐक्य समापन्न होता है तो ये सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान यदि अद्वैतरूप है तो भक्ति भी अनन्यरूपा है।

श्री नरहरि 'बोधसार' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि वेदान्त में जो अपरोक्षानुभूति के नाम से निरूपित है, वही प्रेमलक्षणाभक्ति या परा-भक्ति की परिणति है।

अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिताः।
प्रेमलक्षणा भक्तेस्तु परिणामः स एव हि॥

अनन्य भक्ति, अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त भक्ति, फलरूपा भक्ति इसी पराभक्ति के पर्याय हैं। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, श्री समर्थ आदि अद्वैतनिष्ठ संतों ने इसी परा-भक्ति के आनन्द-गीत गाए हैं।

श्रीमद्भागवत में विशेष आदर अभेद-भक्ति को ही दिया गया है।[१] बादरायण का तात्पर्य भी अभेद-भक्ति में ही है।[२] गीता में भी इसी परा-भक्ति को ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन कहा गया है।[३]

गोस्वामी जी ने भक्ति को जहाँ ज्ञानादि साधनों का फल माना है, वहाँ उनका अभिप्राय परा-भक्ति से ही है।

भगवान् की उपासना भेद-निष्ठा से भी की जा सकती है और अभेद-निष्ठा से भी। अभेद-निष्ठा ही अपरोक्ष ज्ञान या अभेद-भक्ति अथवा परा-भक्ति है। भेद-निष्ठा या भेद-भक्ति में मोक्षदातृत्व का अभाव है :

दशरथ भेद भगति मन लायो!
ताते उमा मोच्छ नहिं पायो॥[४]

---

१ द्रष्टव्य : भागवत, १।२।७; २।४।३१; ३।९।९; ४।२०।९; ६।४।१३; ७।६।९ आदि

२ देखिए ३, ब्रह्मसूत्र ३।२।२४

३ गीता १८।५५

४ मानस, उत्तर० ११२

भक्ति-सिद्धान्त से शङ्कराचार्य का कोई विरोध नहीं है।[१] भगवान् शङ्कर ने देवी, विष्णु, गंगा आदि के स्तोत्रों में एकात्मप्रत्यय-निष्ठा का ही गान किया है। उनके निष्कलुष हृदय की यह अभिव्यक्ति बड़ी मर्म-मधुर है :

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकी नत्त्वम्।
समुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥

कुछ विद्वानों की धारणा है कि शङ्कर ने सामान्य पूजार्थियों के तोष के लिए भक्ति-सिद्धान्त को स्वीकार किया था।[२] पर यह मत अशुद्ध है। यदि ऐसा होता तो उनके भक्ति-परक स्तोत्रों में वह मर्म-मधुरता और रस-पेशलता न आती जो हृदय की अनायास और सहज-स्फूर्त रचना में होती है।

भक्ति की परिभाषा करते हुए 'विवेक चूड़ामणि' में शङ्कराचार्य कहते हैं कि स्व-सरूप का अनुसन्धान ही भक्ति है :

'स्वसरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।'

तुलसी भी 'विनयपत्रिका' में अनुराग का स्वरूप बताते हुए ऐसा ही कहते हैं :

'अनुराग सो निजरूप गो जग तें बिलच्छन देखिए।'

श्री सुरेश्वर, मधुसूदन, स्वामी पद्मपाद, चित्सुख, सर्वज्ञात्म, श्रीधर स्वामी आदि सहस्रों अद्वैतनिष्ठ ब्रह्म-ज्ञानियों का प्रभु के प्रति ऐसा ही अकैतव अनुराग था।

शङ्कराचार्य ने ज्ञान और भक्ति के समुच्चय का खण्डन तो कहीं नहीं किया, पर ज्ञान-कर्म-समुच्चय के वे विरोधी थे। गोस्वामी जी ने भी शुभ और

---

१ While Samkara is an absolute non-dualist in his metaphysics, he had great faith in Bhakti or devotion to a personal God.

—S. Radhakrishnan : The Bramha Sutra, Introduction, p. 37

२ No doubt, Samkara in order to accommodate such people admitted of a personal god; and popular belief attributes to him the introduction of the worship of the five gods together, so as to displease no one. But a god was after all of an illusory and second rate importance in his system.

—V. S. Ghate : 'The Vedanta' pp. 20-21.

अशुभ कर्मों से विरत होने को परम आदर्श माना है :

'त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक'

शंकराचार्य कहते हैं कि अपनी आत्मा को आप्त-काम मानने वाला पुरुष किसी भी प्रवृत्ति को प्रयोजनवती नहीं देखता। इसी अभिप्राय से तुलसीदास कहते हैं :

'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।'

ब्रह्म

राम परब्रह्म हैं

भगवान् राम के परब्रह्म के रूप में अवतरित होने की पुष्टि तुलसीदास ने अनेक स्थलों पर की है। राम परब्रह्म हैं। वे वेदादि-शास्त्रैकसमधिगम्य, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश, सर्वोपाधिविनिर्मुक्त और त्रिविधपरिच्छेदशून्य हैं।

गोस्वामी जी कहते हैं :

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप
भगत हेतु नानाविध करत चरित्र अनूप ॥[१]

जनक की उक्ति है :

व्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी।
चिदानंदु निरगुन गुनरासी ॥[२]

राज्याभिषेक के अनन्तर राम की स्तुति करते हुए वेद कहते हैं :

जे ब्रह्म अजमद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।[३]

निषाद को उपदेश देते हुए लक्ष्मण कहते हैं :

राम ब्रह्म परमारथ रूपा।
अबिगत अलख अनादि अनूपा ॥[४]

परामर्श लेने पर विभीषण रावण से राम के सम्बन्ध में कहता है :

ब्रह्म अनामय अज भगवंता।
व्यापक अजित अनादि अनंता ॥[५]

---

१ मानस, बाल० २०५
२ वही, बाल० ३४१
३ वही, उत्तर० १३
४ वही, सुन्दर० २६
५ वही, सुन्दर० २६

पार्वती की शंका का समाधान करते हुए शंकर कहते हैं :

सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति मायाधनी ।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी ॥[१]

बन्दरों के निराश होने पर जामवन्त अंगद से कहता है :

तात राम कहं नर जनि मानहु ।
निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ॥[२]

रावण-वध के अनन्तर देवगण स्तुति करते हैं :

तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी ।
सदा एक रस सहज उदासी ॥[३]

भुशुण्डि गरुड़ को राम का परिचय देते हुए कहते हैं :

ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ।[४]

ब्रह्मरूप राम के प्रति शिव का प्रणत भाव देखिए :

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ ।
रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ ॥[५]

प्रचलित वाल्मीकि रामायण में राम का विष्णु के अवतार रूप में कथन है। पर उन समस्त अंशों को जहाँ राम के अवतार का उल्लेख है, विद्वानों ने प्रक्षिप्त होने के तर्क दिए हैं ।[६]

वाल्मीकि रामायण में अनेक स्थलों पर राम की तुलना इन्द्र[७], ब्रह्मा[८]

---

१ मानस, बाल० ५१
२ वही, किष्किन्धा० २६
३ वही, लंका० ११०
४ वही, उत्तर० ७२
५ वही, बाल० ११६
६ प्रामाणिक काण्डों की अवतारवादी सामग्री, जो तीनों पाठों में मिलती है, नहीं के बराबर है। और जो सामग्री तीनों पाठों में मिलती है, वह एक ऐसे अंश में पाई जाती है, जो स्पष्टतः प्रक्षिप्त है।
—डा० कामिल बुल्के : 'रामकथा' पृ० १२९
७ वाल्मीकि रामायण, ६।९९।१२; ६।३३।२८; ३।६८।२८
८ वही, १।१।१३; १।७८।२५; २।३०।२७; २।९९।२६; ३।२३।४; ४।२६।२

रुद्र[१], बृहस्पति[२], कुबेर[३], वरुण[४], धर्म[५], काम[६], अग्नि[७], यम[८], और पर्जन्य[९], से भी की गई है।

सम्भवतः आदि रामायण में विष्णु की अपेक्षा इन्द्र का मान अधिक था। कई स्थलों पर राम की तुलना इन्द्र से और लक्ष्मण की विष्णु से की गई है। एक उदाहरण अलम् होगा :

ततो राममभिक्रम्य सौमित्रिरभवद्य च।
तस्थौ भ्रातृसमीपस्थः शक्रस्येन्द्रानुजो यथा ॥[१०]

महाभारत के रामोपाख्यान के अरण्य पर्व में विष्णु के अवतार के रूप में राम का निर्देश सम्भवतः प्रथमतः है।[११] प्राचीन पुराणों में ब्रह्माण्ड[१२], मत्स्य[१३],

---

१ वाल्मीकि रामायण ४।१६।३८
२ वही, १।१।३२; १।१।३६; २।२।३०
३ वही, २।१६।८; १।१।१६; २।१६।४६
४ वही, ३।३७।३
५ वही, १।१।१६
६ वही, ३।३४।६
७ वही, ५।३६।५३;
८ वही, २।१।३६
९ वही, २।१।३६
१० वही, ६।६१।४

११ (क) अथ दाशरथिर्वीरो रामो महाबलः।
विष्णुर्मानुषरूपेण चचार वसुधामिमाम् ॥
—महाभारत रामोपाख्यान, अरण्यपर्व, ३।१४७।२८

(ख) तदर्थमवतीर्णोऽसौमन्नियोगाच्चतुर्भुजः।
विष्णुः प्रहरतां श्रेष्ठः स कर्मैतत्करिष्यति ॥
—वही, ३।२६०।५

(ग) विष्णुना वसता चापि गृहे दशरथस्य वै।
दशग्रीवो हतश्छन्नं संयुगे भीमकर्मणा ॥
—वही, ३।२६६।१८

१२ ब्रह्माण्ड पुराण, अध्याय ७३
१३ मत्स्य पुराण, अध्याय ४७

हरिवंश[१] आदि में अवतारों की तालिका में राम का नाम आया है।

सर भण्डारकर का मत है यद्यपि ईसवी सन के प्रारम्भ से राम विष्णु के अवतार रूप में स्वीकृत हो गए थे, पर उनकी विशेष प्रतिष्ठा ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग ही आरम्भ हुई।[२] डा० श्राडर का भी मत है कि जिन वैष्णव संहिताओं में राम की एकान्तिक पूजा का प्रतिपादन है, वे अर्वाचीन हैं और उन पर पंचरात्र के प्रामाणिक साहित्य का स्पष्ट प्रभाव है।[३] डा० वेबर ने रामतापनीय उपनिषद् का, जो रामभक्ति सम्बन्धी साम्प्रदायिक उपनिषदों में प्रमुख है, प्राचीनतम काल ग्यारहवीं शताब्दी माना है।[४]

'रामतापनीय उपनिषद्' और 'अध्यात्म रामायण' में अनेक स्थलों पर अत्यधिक समानता दीखती है। साम्प्रदायिक रामायणों में 'अध्यात्म रामायण' की अत्यधिक प्रतिष्ठा है। इस ग्रन्थ में राम के परब्रह्म के अवतार होने का पहली बार उल्लेख मिलता है।[५] 'अध्यात्म रामायण' को रामानुज सम्प्रदाय के श्री रामानन्द की कृति मानने का भ्रम विद्वानों में बद्धमूल है।[६] पर इस भ्रम का अब उच्छेद हो चुका है। तत्वतः 'अध्याम रामायण' निर्विशेष अद्वैतवाद का प्रतिपादक ग्रन्थ है और इसके लेखक सम्भवतः कोई राम शर्मा नामक अद्वैतवादी राम-भक्त थे जो रामानन्द से भिन्न थे।[७] गोस्वामी जी की राम-कथा 'अध्यात्म रामायण' को ही विशेष रूप से उपजीव्य मानकर चली है।

---

१ हरिवंश पुराण, अध्याय ७८, १०४, १२८

२ 'वैष्णाविज्म शैविज्म०', पृ० ४७

३ डा० श्राडर : 'इंट्रोडक्शन् टु दि पांचरात्र,' पृ० १६

४ ए० वेबर : मेम्वयार बर्लिन एकाडमी, १८६४, पृ० २८३
डा० कामिल बुल्के द्वारा 'रामकथा' में उद्धृत।

५ रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम्॥
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरंजनम्।
सर्वंव्यापिनमात्मं स्वप्रकाशनं शकल्मषं॥
—अध्यात्म रामायण, बाल० १।३२-३३

६ दि आथरशिप आव् अध्यात्मरामायण—प्रो० रघुवीर भिट्ठूलाल शास्त्री, गंगानाथ झा रिसर्च इन्सटीट्यूट जर्नल, वा० १ पार्ट २, फरवरी, १९४४

७ डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव : रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृ० १५२।

'मानस' और 'अध्यात्म रामायण' में पार्वती की ब्रह्म-विषयक शंका[१] और उसके समाधान में प्रयुक्त तर्क की पद्धति भी मूलतः एक है।[२]

ब्रह्म शब्द वृद्ध्यर्थक 'बृह' या 'वृहि' धातु से निष्पन्न होने के कारण महत्त्व का अभि-

---

१ मानस :

प्रभु जे मुनि परमारथवादी।
कहहिं राम कहुं ब्रह्म अनादी॥
सेस सारदा वेद पुराना।
सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥
तुम्ह पुनि राम राम दिन राती।
सादर जपहु अनंग आराती॥
राम सो अवध नृपति सुत सोई।
की अज अगुन अलख गति कोई॥

जौं नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमित बुद्धि अति मोरि॥
—बाल०, १०८

अध्यात्म रामायण—

वदन्ति रामं परमेकमाद्यं निरस्तमायागुण संप्रवाहम्।
भजन्ति चाहर्निशमप्रमत्ताः परं पदं यान्ति तथैव सिद्धाः॥
वदन्ति केचित्परमोऽपि रामः स्वाविद्यया संवृतमात्मसंज्ञम्।
जानाति नात्मानमतः परेण सम्बोधितो वेद परात्मतत्त्वम्॥
यदि जानाति कुतो विलापः सीताकृतेऽनेन कृतः परेण।
जानाति नैवं यदि केन सेव्यः समो हि सर्वैरपि जीवजातैः॥
अत्रोत्तरं किं विदितं भवद्भिस्तद् ब्रूत मे संशयभेदि वाक्यम्।
—बाल०, १।१२-१५

२ मानस—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा।
नहिं तहं मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना।
नहिं तहं पुनि बिग्यान बिहाना॥
—बाल०, ११६

धान क.ता है।[१] वह महत्त्व संकोच के कारणभूत प्रकरण तथा सम.भव्याहृत उपपद के न होने से निरतिशय रूप से ही सम्पन्न होता है। अतः ब्रह्म की देश काल और वस्तु से परिच्छेद शून्यता सिद्ध है। बाध्यत्व, जड़त्व एवं पुरुषार्थत्व रूप दोषों से मुक्ति भी महत्व है।[२]

जो वस्तु देश-विशेष में हो, और देशान्तर में न हो, वह देश-परिच्छिन्न होगी, उसमें निरतिशय बृहत्ता असंभाव्य है। जिसका विनाश शक्य हो, वह काल-परिच्छिन्न होगा, उसमें महत्ता अथवा अनन्तता नहीं हो सकती। यदि वस्त्वन्तर का सद्भाव माना जाए तो अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होने से ब्रह्म वस्तु-परिच्छिन्न हो जाएगा और उसकी निरतिशय महत्ता बाधित और क्षुण्ण हो जाएगी। अतः निरतिशय महत्ता के अनुरोध से ब्रह्म को त्रिविध परिच्छेद विनिर्मुक्त मानना होगा।

सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। 'सत्यं ज्ञानमानन्द ब्रह्म', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्', 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजनात्' इत्यादि श्रुतियाँ इसकी

अध्यात्म रामायण :

नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेत् प्रकाशरूपाध्यभिचारतः क्वचित्।
ज्ञानं तथा ज्ञानमिदं द्वयं हरौ रामे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने॥

—बाल०, १।२३

१ The word Brahman which stands for the Absolute in the Vedanta philosophy isderived from the root 'brih' to grow. It is the nature of the Absolute to grow into the world. The world is the affirmation of the Absolute. The Universe is the energising of God. God realisid himself in the world.We do not-have the infinite and the finite, God and the world. The Supreme, the Eternal, is the unity of all things finite and infinite.

—S. Radhakrishnan : Reign of Religion in Contemporary Philisophy, pp. 442–44.

२ ब्रह्मशब्दश्च बृह बृहि वृद्धावित्यस्माद्धातोर्निष्पन्नो महत्त्वमाचष्टे। तच्च महत्त्वं संकोचप्रकरणोपपदयोरभावान्निरतिशयमेव संपद्यते। ततो देशतः कालतो वस्तुश्चाऽन्तशून्यमित्युक्तं भवति। तथा बाध्यत्वजड़त्वापुरुषार्थत्वादिदोषराहित्यमपि महत्त्वमेव।

—विवरण प्रमेय संग्रह, सूत्र १, वर्णक ४

प्रमाणभूत हैं। इस संसार के प्रभव, पालन और प्रलय का विधान जिसके द्वारा साधित होता है, वह ब्रह्म है; यह तटस्थ लक्षण है। इसके प्रमाण में 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व', 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्', 'आत्मा वा इदमेकग्र आसीत् ....स इमान् लोकांनसृजत', 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्....तत्तेजोऽसृजत', 'तदेतत्सत्यम्', 'यथा सुदीप्तात्पावकात् विस्फुलिंगाः....तदाचरात् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति', 'तद्वैदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्, तन्नामरूपाभ्यामेव व्यक्रियत्' इत्यादि श्रुति-वचन हैं।

ब्रह्म के स्वरूप लक्षण के विचार से गोस्वामी जी ने 'राम सच्चिदानंद दिनेसा'[१], 'शुद्ध सच्चिदानंद कंद भानुकुल केतु',[२] 'ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जंह भूप',[३] और तटस्थ लक्षण के विचार से 'जेहि सृष्टि उपाइ त्रिविध बनाई',[४] 'जो करता पालक संहरता'[५] आदि वचनों का प्रयोग किया है।

ब्रह्म : ब्रह्म वेदान्त-वेद्य है

शारीरक भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं कि प्रत्यक्ष विषयों की भाँति ब्रह्म का कोई रूप नहीं है अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं है। लिंगादि के अभाव के कारण यह अनुमान का भी विषय नहीं है अतः आगम मात्र एक इसके अधिगमन का साधन है।[६] इसीलिए आचार्य कहते हैं कि सत्य केवल श्रुति से ही जाना जा सकता है।[७] छान्दोग्य-भाष्य में वे कहते हैं कि श्रुति का वचन नित्य सत्य होता है, किसी भी कुतर्क द्वारा वह अन्यथा सिद्ध नहीं किया जा सकता। श्रुति सत्य का चरम प्रमाण है, क्योंकि उससे गुरुतर प्रमाण उप-

---

१ मानस, बाल० ११६
२ वही, अयोध्या० ८७
३ वही, उत्तर० ४७
४ वही, बाल० १८६
५ वही, लंका० ७
६ शारीरक भाष्य, २।१।६
७ छान्दोग्य भाष्य, ६।१।२

लब्ध नहीं है।[१]

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'[२] इत्यादि श्रुतियों के साक्ष्य से भी सिद्ध है कि ब्रह्म केवल वेदान्त द्वारा ही वेद्य है। इसीलिए गोस्वामी जी कहते हैं :

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण शान्तिप्रदम्।
ब्रह्माशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्॥[३]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है—'नावेद विन्मनुते तंवृहन्तम्'[४] अर्थात् वेद को न जानने वाला पुरुष उस परिपूर्ण आत्मा को नहीं जान सकता। लघुवार्त्तिक में कथित है—'वेद हेतुरपि ब्रह्म तद्वेदादैव गीयते'[५] अर्थात् ब्रह्म यद्यपि वेद का हेतु है, तथापि उसका ज्ञान वेद से ही होता है।'

श्रुति के सम्बन्ध में पाणिनि के मत का उपन्यास करते हुए भर्तृहरि 'वाक्यपदीय' में लिखते हैं :

न चागमादृते धर्मः तर्केण व्यवतिष्ठते।
ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्॥
चैतन्यमिव यश्चेयमविच्छेदेन वर्त्तते।
आगमस्तमुपासीनो हेतुवादैर्न बध्यते॥

भाष्यकार पतञ्जलि भी अपने सम्प्रदाय के विश्वास के सम्बन्ध में कहते हैं—'शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।' महर्षि व्यास ने सावधान करते हुए कहा कि मन और बुद्धि से अतीत जो अचिन्त्य हैं, उसके साधन के लिए तर्क का आग्रह मत करो—'अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्।'[६]

शारीरक भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं कि वेद तो नित्य है और विज्ञान की उत्पत्ति का हेतु है, अतः वह व्यवस्थित अर्थ का प्रतिपादक है। उससे उत्पन्न हुए ज्ञान की यथार्थता का अतीत अनागत और वर्त्तमान के किसी भी तार्किक द्वारा निषेध नहीं किया जा सकता।[७]

---

१ वही, ८।१२।१
२ बृहदारण्यक उप० ३।९।२६
३ मानस, सुंदर०, मंगलाचरण, १
४ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।९
५ लघुवार्त्तिक १।१।३
६ महाभारत, भीष्म पर्व ५।१२
७ शारीरक भाष्य, २।१।११

तत्त्वोपदेश में आचार्य कहते हैं कि अन्य सब प्रमाण जिसकी अपेक्षा करते हैं और जो किसी भी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता, वह वेद-वाक्य, हमारा प्रत्यगात्मा ही ब्रह्म है, इस ज्ञान में प्रमाण है :

अपेक्ष्यतेखिलैर्मानैर्न यन्मानमपेक्षते ।
वेद वाक्यं प्रमाणं तद् ब्रह्मात्मावगतौ मतम् ॥[१]

यहाँ एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित करना अनिवार्य हो जाता है। गोस्वामी जी ब्रह्म को एक साथ ही वेदान्त-वेद्य और अप्रमेय कहते हैं !

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण शान्तिप्रदम् ।
ब्रह्मा शम्भुफणींद्र सेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम ॥[२]

ठीक इसी क्रम से आचार्य शंकर भी 'विवेक चूड़ामणि' के मंगलाचरण में ब्रह्म को एक साथ ही 'वेदान्त सिद्धान्तगोचर' और 'अगोचर' कहते हैं :

'सर्ववेदान्त सिद्धान्तगोचरं तमगोचरम् ।'

श्रुति भी 'यतोवाचो निवर्त्तन्ते' आदि वचनों से ब्रह्म के श्रुतिगम्य होने का निषेध करती है और 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि अनेक श्रुतियों में ब्रह्म के आगमगम्य और वेदान्त-वेद्य होने का विधान मिलता है। आचार्यों ने कहा है :

अनाधेय फलत्वेन श्रुतिर्ब्रह्म न गोचरः ।
प्रमेय प्रमितौ तु स्यादात्माकार समर्पणात् ॥

न प्रकाश्यं प्रमाणेन प्रकाशो ब्रह्मणः स्वयम् ।
तज्जन्याऽऽवृत्तिभङ्गे न प्रमेयमिति गीयते ॥

ब्रह्म तो श्रुति का अविषय ही है। जो ब्रह्म स्वतः प्रकाशस्वरूप है, श्रुति उसमें स्फुरण रूप फल उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकती। ज्ञान में अपने आकार का समर्पण करने के निमित्त से ही ब्रह्म प्रमेय रूप में कथित है। जिस हेतु से ब्रह्म स्वप्रकाश है, उसी हेतु से अप्रमेय भी। चूँकि प्रमाण द्वारा आवरण-भंग होता है, अतः ब्रह्म प्रमेय है, ऐसा कहा जाता है।

यहाँ शास्त्र को आत्म-ज्ञान में अभिधावृत्ति से कारण नहीं मानते किन्तु लक्षणावृत्ति से। तात्पर्य यह है कि 'वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः' इत्यादि श्रुतियों

---

१ तत्त्वोपदेश, २०

२ मानस, सुन्दर० मंगलाचरण, १

के प्रमाण से ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन वेदान्त प्रतीत होता है और 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि श्रुति से उसका विरोध होने पर क्या करना चाहिए ? क्या दोनों में से एक श्रुति को अप्रमाण माना जाए या दोनों को प्रमाण माना जाए अथवा श्रुतियों की व्यवस्था की जाय ? इनमें से पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि वेद-वाक्य होने से दोनों तुल्य भाव से प्रमाण हैं, समुच्चय स्वीकार कर लेने का दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि परस्पर विरुद्ध दोनों का एक में योग कैसे होगा ? इसलिए अब व्यवस्था शेष रही, उसीसे विरोध का परिहार करना उचित है। वह व्यवस्था यों है कि निषेध-वाक्य तो अविधावृत्ति (मुख्यरूप) से आत्मा में शब्द की प्रवृत्ति का प्रतिषेध करता है और आत्मा को वेदान्तगम्य कहने वाले वाक्य लक्षणा-वृत्ति से आत्मा में शब्द की प्रवृत्ति सूचित करते हैं। अतः विरोध का कोई प्रसंग नहीं है।[१]

गीता-भाष्य में शंकराचार्य भी कहते हैं कि शास्त्र जो कि अन्तिम प्रमाण है, वह आत्मा में किए हुए अनात्म पदार्थों के अध्यारोप को दूर करने मात्र से ही आत्मा के विषय में प्रमाण रूप होता है, अज्ञात वस्तु का ज्ञान कराने के निमित्त से नहीं,—'शास्त्रं तु अन्त्यं प्रमाणम् अतद्धर्माध्यारोपणमात्रनिवर्तकत्वेन प्रमाणत्वम् आत्मनि प्रतिपद्यते न तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन।'[२]

खण्डनखण्डखाद्यकार कहते हैं कि यद्यपि धर्म का सम्बन्ध न होने से ब्रह्म 'पदवाच्य' नहीं नहीं और योग्यता ज्ञान न होने से वाक्यार्थ भी नहीं है, तथापि जैसे 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' इस वाक्य में काक पद उपलक्षण रूप से तृणाच्छादन (छप्पर) का प्रतिपादन करता है, वैसी ही श्रुति भी जगत्-कर्तृत्वादि विशेषणों को त्यागकर तात्पर्य-बल से ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती है। तस्मात् वाच्य-वाचक भाव से रहित उस ब्रह्म में अविद्या-दशा में नैयायिकादि की रीति से श्रुति-प्रमाण है। वास्तव में अपने आप सिद्ध चिद्रूप ब्रह्म है।[३]

---

१ वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ९७-९८

२ गीता भाष्य, २।१८

३ खण्डन खण्ड खाद्य, प्रथम परिच्छेद, पृ० ३५

ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है

गोस्वामीजी ब्रह्म की सच्चिदानन्द स्वरूपता का उल्लेख करते हुए कहते हैं :

(क) राम सच्चिदानंद दिनेसा ।
(ख) ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जँह भूप ।
(ग) सोइ सच्चिदानंद घन कर नर चरित उदार ।
(घ) निसि बासर ध्यावहीं गुन गन गावहिं जयति सच्चिदानंद ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,'[१] तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,'[२] ये ब्रह्म के स्वरूप-प्रतिपादक लक्षण हैं । 'सत्य', 'ज्ञान' और 'अनन्त' शब्द एकविभक्तिक होने के नाते ब्रह्म के विशेषण प्रतीत होते हैं । ऐसी प्रतीति होती है कि ब्रह्म विशेष्य है और सत्य, ज्ञान, अनन्तादि विशेषण हैं । पर विशेषण तो तभी सार्थक होंगे, जब एकजातीय अनेक-विशेषण-योगी अनेक द्रव्यों की सत्ता का सद्भाव हो । परन्तु ब्रह्म तो एक और अद्वितीय है :

(क) एक अनीह अरूप अनामा ।[३]
(ख) जे ब्रह्म अजमद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं ।।[४]

अतः इन विशेषणों की उत्पत्ति-नहीं होती । वस्तुतः ये विशेषण लक्षणार्थ-प्रधान हैं । विशेषण विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तित करते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त करने वाले होते हैं । अतः ब्रह्म के अद्वितीय होने के नाते सत्य, ज्ञानादि ब्रह्म के लक्षण हैं, विशेषण नहीं ।

ब्रह्म सत्य स्वरूप है । गोस्वामी जी कहते हैं :

राम ब्रह्म परमारथ रूपा ।
अबिगत अलख अनादि अनूपा ।।[५]

पारमार्थिक, व्यावहारिक, तथा प्रातिभासिक भेद से पदार्थों की सत्ता तीन प्रकार की है । उनमें पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म की है । व्यावहारिक सत्ता आका-

---

१ तैत्तिरीय उप० २।१।१
२ बृहदारण्यक उप० ३।९।२८
३ मानस बाल० १३
४ वही, उत्तर० १३
५ वही, अयोध्या ९३ ।

शादिकों की है तथा प्रातिभासिक सत्ता शुक्तिरजतादिकों की है।[१]

एक मात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। रज्जु आदि में प्रतीत होने वाले सर्प, धारा आदि विकल्प भेदों के समान उनके चित्स्वरूप में कोई भेद न होने पर भी परस्पर एक दूसरे का व्यभिचार होने के कारण वे असद्रूप हैं। किन्तु चिद्स्वरूप का कहीं भी व्यभिचार नहीं है, इसलिए वह सत्य है, क्योंकि सत्-स्यत आदि जो कुछ मूर्त्त-अमूर्त्त धर्मजात है, वह सामान्य रूप से सारा ही विकार एकमात्र 'सत्' शब्द वाच्य ब्रह्म ही है—क्योंकि उससे भिन्न नाम-रूप-विकार का सर्वथा अभाव है—इसलिए ब्रह्मवादी लोग उस ब्रह्म को 'सत्य' कहकर पुकारते हैं।[२] सदा एक स्वभाव में रहने के कारण आत्मा का कभी व्यभिचार नहीं होता।[३] समरूप होने के कारण ब्रह्म ही साम है।[४] गोस्वामी जी ब्रह्म की इस एकरसता के समर्थन में कहते हैं :

(क) अतुल अलेप अमान एक रस ॥[५]

(ख) तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी।[६]

(ग) जो तिहुँ काल एक रस अहई।[७]

एकरस होने से ब्रह्म वस्तु के परिच्छेद से रहित है, 'तिहुकाल एकरस' होने से वह कालतः परिच्छेद शून्य है और 'अहइ' देशतः परिच्छेद शून्यता का वाचक है। ब्रह्म अनन्त होने के कारण ही देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से शून्य होता है, क्योंकि 'अन्त' शब्द देश, काल और वस्तु से परिच्छिन्न अर्थ में व्युत्पन्न है। ब्रह्म की अनन्तता का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं।

(क) आदि अन्त कोउ जासु न पावा।[८]

---

१ यद्वा, त्रिविधं सत्वं पारमार्थिकं व्यावहारिकं प्रातिभासिकं च।
पारमार्थिकं सत्वं ब्रह्मणः, व्यावहारिकं सत्वमाकाशादेः, प्रातिभासिकं सत्वं शुक्तिरजतादेः।
—वेदान्त परिभाषा, पृ-४६-४७

२ तै० उ० २।६ पर शा० भाष्य

३ तै० उ० ३।१० पर शां० भाष्य

४ क०उ० २।३।६ पर शां० भाष्य।

५ मानस, अयोध्या० २१६

६ वही, लंका० ११०

७ वही, बाल० ३४१

८ वही, बाल० ११८

(ख) अगुन अखंड अनंत अनादी ।[१]

(ग) व्यापक अजित अनादि अनंता ।[२]

(घ) व्यापक व्याप्य अखंड अनंता ।[३]

(ङ) जय भगवंत अनंत अनामय ।[४]

'अनन्तता तीन प्रकार की है—देश से, काल से और वस्तु से । आकाशादि का कारण होने से ब्रह्म देश से अनन्त है, क्योंकि लोक में असर्वगत वस्तु से कोई सर्वगत वस्तु उत्पन्न होते नहीं देखी जाती । जो वस्तु किसी का कार्य होती है, वही काल से परिच्छिन्न होती है और ब्रह्म किसी का कार्य नहीं है, इसलिए उसकी काल से अनन्तता है । उसी प्रकार वह वस्तु से भी अनन्त है। भिन्न वस्तु ही किसी अन्य भिन्न वस्तु का अन्त हुआ करती है। किन्तु ब्रह्म का ऐसा कोई भेद नहीं है । अतः वस्तु से भी उसकी अनन्तता है ।'[५]

जो किसी से विभक्त नहीं होता, वही अनन्त हो सकता है—'यद्धि न कुतश्चित्प्रविभज्यते तदनन्तम् ।'[६]

गोस्वामी जी को ब्रह्म की अखण्डता अभिमत है, वे कहते हैं :

(क) अगुन अखंड अनंत अनादी ।[७]

(ख) व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप[८]

(ग) अकल अगुन अज अनघ अनामय ।[९]

(घ) व्यापक व्याप्य अखंड अनंता ।[१०]

शंकर कहते हैं—जो पदार्थ जिस रूप से निश्चय किया गया है, उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है । जो पदार्थ जिस रूप से

---

१ मानस, बाल० १४४

२ वही, सुन्दर० २९

३ वही, उत्तर० ७२

४ वही, उत्तर० ३४

५ तैत्तिरीय उप० २।१ पर शा० भाष्य०

६ वही

७ मानस, बाल० १४४

८ वही, बाल० २०५

९ वही, लंका० ११०

१० वही, उत्तर० ७२

निश्चित किया गया है, उस रूप से व्यभिचरित होने पर वह मिथ्या कहा जाता है। इसलिए विकार मिथ्या है। 'विकार केवल वाणी से आरम्भ होने वाला और नाम मात्र है, बस, मृत्तिका ही सत्य है' इस प्रकार निश्चय किया जाने के कारण सत् ही सत्य है। अतः 'सत्यं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्म को विकार मात्र से निवृत्त करता है।[१]

ब्रह्म की निर्विकारिता का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

(क) सकल विकार रहित गत भेदा।[२]

(ख) ब्रह्म अनामय अज भगवंता।[३]

(ग) अकल अगुन अज अनघ अनामय।[४]

(घ) सबदरसी अनवद्य अजीता।[५]

(ङ) जय भगवंत अनंत अनामय।[६]

यही नहीं, राम की देह भी चिदानन्दमय तथा निर्विकार है :

चिदानन्दमय देह तुम्हारी।
बिगत बिकार जान अधिकारी॥[७]

ब्रह्म, अज, अनादि, पुराण, निरवयव, नित्य और अविनाशी होने से उत्पत्ति, वृद्धि, परिणति, क्षय, नाश आदि विकारों से अतीत है।

ब्रह्म नित्य है। यथा :

'नित्य निरंजन सुख संदोहा'[८]

देह तो जड़, अनित्य, रूपवान और परिच्छिन्न होने के कारण अनात्म ही है। 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तधर्मा' इत्यादि श्रुतियों के साक्ष्य से आत्मा की कूटस्थ नित्यता सिद्ध है। आत्मा का नित्यत्व उसका स्वरूपभूत होने के

---

१ तैत्तिरीय भाष्य २।१।१
२ मानस, अयोध्या०९३
३ वही, सुंदर० २९
४ वही, लंका० ११०
५ वही, उत्तर० ७२
६ वही, उत्तर० ३४
७ वही, अयोध्या० १२७
८ वही, उत्तर० ७२

कारण अहेतुक ही है। उसकी नित्यता आपेक्षिक नहीं है।

तैत्तिरीय भाष्य में शङ्कर कहते हैं कि जो वस्तु आरम्भ होने वाली होती है, वह अनित्य हुआ करती है। शतशः वचन होने पर भी नित्य वस्तु का आरम्भ नहीं किया जा सकता और न आरम्भ होने वाली वस्तु अविनाशी ही हो सकती है—'न हि वचेनशतेनापि नित्यमारभ्यत आरब्धं वाविनाशि भवेत।'[१]

ब्रह्म नित्य है, इसीलिए अनादि भी। गोस्वामी जी कहते हैं :

(क) सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥[२]
(ख) आदि अंत कोउ जासु न पावा।[३]
(ग) अगुन अखंड अनंत अनादी।[४]
(घ) अबिगत अलख अनादि अनूपा।[५]
(ङ) व्यापक अजित अनादि अनंता।[६]
(च) अनुपम अज अनादि शोभा कर।[७]

आत्मा अनित्य नहीं है, क्योंकि उसके विनाश का निरूपण नहीं किया जा सकता। आत्मा का स्वतः विनाश तो होता नहीं क्योंकि कारण के बिना होने वाले अतिप्रसंगग्रस्त विनाश को बौद्धों के अतिरिक्त और कोई नहीं मानता। अन्य कारण से भी आत्मा का विनाश नहीं हो सकता, क्योंकि निरवयव आत्मा का विनाश के कारण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे का सम्बन्ध कर्म द्वारा ही होता है और वह कर्मजनित सम्बन्ध उस कर्म के फल का उपभोग करने के लिए आत्मा का स्थिति को ही सिद्ध करेगा, विनाश को नहीं।[८]

---

१ तैत्तिरीय भाष्य १।११
२ मानस, बाल० ११७
३ वही, बाल० ११८
४ वही, बाल० १४४
५ वही, अयोध्या० ९३
६ वही, सुंदर० २९
७ वही उत्तर० ३४
८ न चाऽयमनित्यः, विनाशानिरूपणात्। न तावत् स्वतो विनाशः, निर्हेतुकविनाशस्याऽतिप्रसङ्गिनः सुगतव्यतिरिक्तैरनङ्गीकारात्। नाऽपि परतः, निरवयवस्य विनाशहेतुसंसर्गासंभवात्। संभवेऽपि वा न

ब्रह्म-तत्त्व अविनाशी है। गोस्वामी जी कहते हैं :

(क) व्यापक ब्रह्म अलखु अबिनासी।[१]

(ख) तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी[२]

(ग) ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी।[३]

गीता-भाष्य में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि इस अविनाशी ब्रह्म के विनाश में कोई भी समर्थ नहीं है। ईश्वर भी अपना विनाश नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा ही स्वयं ब्रह्म है और अपने आप में क्रिया का विरोध है।[४]

ब्रह्म शाश्वत है। अत्रि राम की स्तुति करते हुए कहते हैं—

जगद्गुरुं च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलम्॥

'शाश्वत' शब्द से अपक्षय रूप विकार का प्रतिषेध किया जाता है। ब्रह्म अवयवरहित है अतः स्वरूप से उसका क्षय नहीं होता और निर्गुण होने के कारण गुणों के क्षय से भी उसका क्षय नहीं होता—'शाश्वत इति अपक्षयलक्षण विक्रिया प्रतिषिध्यते शश्वद्भवः शाश्वतः। न अपक्षीयते स्वरूपेण निरवयवत्वाद् निर्गुणत्वात् च न अपि गुणक्षयेण अपक्षयः।'[५]

ब्रह्म का स्वतः तो नाश हो नहीं सकता क्योंकि वह निरवयव है और इसी हेतु सा उसका सम्बन्धविच्छेद प्रयुक्तनाश भी अशक्य है। किसी अन्य द्वारा भी ब्रह्म के नाश की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि ब्रह्म-व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आश्रय के नाश से भी ब्रह्म के नाश का पक्ष सिद्ध नहीं होता क्योंकि ब्रह्म तो अपनी ही महिमा में स्थित है—'कस्मिन् भगवः प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि।' कार्य के नाश से भी उसके नाश का तथ्य सम्भाव्य नहीं, क्योंकि—'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।' ब्रह्म अज है। अतः कारण के नाश से भी उसके नाश का प्रसङ्ग नहीं उपस्थित होता।

विनाशः सिध्येत्। कर्मनिमितो ह्यन्यसंसर्गः, स च तत्कर्मफलोपभोगायाऽऽत्मनोऽवस्थितिमेव साधयेद्, न विनाशम्।

—विवरणप्रमेयसंग्रह, सूत्र १, वर्णक ४

१ मानस, बाल० ३४१

२ वही लंका० ११०

३ वही, उत्तर० ७२

४ गीता भाष्य २।१७

५ वही,, २।२०

'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः', 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्', 'स एव एष महानज आत्मा' इत्यादि श्रुतियों के साक्ष्य से ब्रह्म अज है। गोस्वामी जी कहते हैं :

(क) एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानंद परधामा ॥[१]

(ख) व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ॥[२]

(ग) व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।[३]

(घ) ब्रह्म अनामय अज भगवंता।[४]

(ङ) अकल अतनु अज अनघ अनामय।[५]

(च) अज विग्यान रूप बलधामा।[६]

(छ) जे ब्रह्म अजमद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।[७]

(ज) अनुपम अज अनादि सोभाकर।[८]

(झ) अगुन अरूप अलख अज जोई।[९]

अपने से भिन्न कोई भी ब्रह्म के जन्म का निमित्त नहीं है। जिस प्रकार जल से उत्पन्न होने वाले बुदबुदों का कारण वायु आदि हैं तथा घटाकाशादि भेदों का हेतु घट आदि पदार्थ हैं; उसी प्रकार उस अजन्मा के जन्म का कोई भी कारण नहीं है। वस्तु के सारे विकारों का मूल जन्म ही है। अतः उस (जन्म) का प्रतिषेध कर दिये जाने पर वे सभी प्रतिषिद्ध हो जाते हैं।[१०]

---

१ मानस बाल० १३
२ वही, बाल० १४७
३ वही, बाल० २०५
४ वही, सुन्दर० २६
५ वही, लंका० ११०
६ वही, उत्तर० ७२
७ वही, उत्तर० १३
८ वही, उत्तर० ३४
९ वही, बाल० ११६
१० गीता २।२० पर शा० भाष्य

शारीरक भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं कि सदात्मक ब्रह्म की किसी अन्य से उत्पत्ति होगी, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि सन्मात्र ब्रह्म है, उसकी सन्मात्र से ही उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार सद्विशेष से भी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दृष्ट-प्रत्यक्ष से विपर्यय-विरोध होगा। सामान्य से विशेष उत्पन्न होते देखे जाते हैं, जैसे मृत्तिका आदि से घट आदि परन्तु विशेषों से सामान्य उत्पन्न होते नहीं देखे जाते। असत् से भी सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वह निरात्मक है, 'कथमसतः सज्जायेत'—ऐसे आक्षेप का श्रावण है। 'स कारणं करणाधिपाधिपति चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' —यह श्रुति ब्रह्म के जनिता का निषेध करती है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने उपदेश देते हुए कहा कि—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरो बाह्यः कृत्सनः' अर्थात् लवण का पिण्ड भीतर और बाहर लवण रस से आपूर है, वैसे ही यह आत्मा अन्तर्बाह्य भेद-शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञान रूप ही है।

चैतन्य परिणामी पदार्थों का धर्म नहीं हो सकता और न वह अन्तःकरण का ही धर्म है। वह तो ब्रह्मरूप ही है। इसीलिए ब्रह्म का चैतन्य रूप से निरूपण किया जाता है। आत्मा का स्वरूप जो 'ज्ञप्ति' है, वह उससे व्यतिरिक्त नहीं। अतः वह नित्या है। ज्ञान ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न है। अतः उसका कार्यत्व केवल उपचार से है। आत्मा का जो ज्ञान-कर्तृत्व है, वह उसके सत्ता-मात्र से है। उसकी व्याप्तता के कारण नहीं। देश के सम्बन्ध से ही मूर्तत्व का व्यवहार होता है। ब्रह्म में मूर्तत्व नहीं है। अतः आरोप से ही विभुत्व का व्यवहार होता है।

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म,'[१] 'विज्ञानघन एव,'[२] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म',[३] 'प्रज्ञानं ब्रह्म,'[४] आदि श्रुतियों के साक्ष्य से ब्रह्म की चैतन्य-रूपता सिद्ध है।

गोस्वामी जी ने राम के चित्स्वरूप का उद्घाटन इस प्रकार किया है:

(क) जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ग्यान गुन धामू॥[५]

---

१ बृहदारण्यक उप० ३।९।२८
२ वही, २।४।१२
३ तैत्तिरीय उप० २।१।१
४ ऐतेरय उप० ५।३
५ मानस, बाल० ११७

(ख) सोइ सच्चिदानन्द घन रामा ।
अज बिग्यान रूप बल धामा ॥[१]

(ग) ज्ञान निधान मान अमान प्रद ।[२]

अपने चित्स्वरूप से ही ब्रह्म अपने में अध्यस्त समस्त प्रपंच का अवभासक होने से सर्वज्ञ होता है अर्थात् चित्रभित्ति में परिमार्जित और अंकित चित्र की नाईं ब्रह्म स्व-स्वरूप में स्थित होकर अतीत और अनागत का भी अवभासक होने के नाते सर्वज्ञ है ।

ब्रह्म की सर्वज्ञता प्रतिपादित करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

(क) तुम्ह सर्वग्य कहऊँ सति भाऊ ।
उर अंतरजामी रघुराउ ॥[३]

(ख) सुनहुँ राम सरवग्य सुजाना ।[४]

ब्रह्म का विज्ञान सूर्य के प्रकाश की ही नाईं ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न और उसका स्वरूपभूत ही है । उस ब्रह्म से सम्पूर्ण भाव-पदार्थों के देश-काल अभिन्न हैं और वह काल तथा आकाशादि का भी कारण एवं निरतिशय सूक्ष्म है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से वृद्धि को प्राप्त हुई तथा सम्पूर्ण इंद्रियों की विषयभूत, यह पृथिवी स्थूल है, ऐसा ही शरीर भी है । उनमें गंधादि गुणों में से एक-एक का अपकर्ष होने से जल से ले कर आकाश पर्यन्त चार भूतों में सूक्ष्मत्व, महत्व, विशुद्धत्व और नित्यत्व आदि का तारतम्य देखा गया है । किन्तु जहाँ गंध से लेकर शब्द पर्यन्त स्थूलता-जन्य ये सारे विकार नहीं हैं, वहाँ उस ब्रह्म के सूक्ष्मत्वादि की निरतिशयता की कथा ही क्या ? इसीलिए भगवान् शंकराचार्य कहते है कि कोई सूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट तथा भूत, भविष्य या वर्तमान वस्तु नहीं है, जो उसके द्वारा वेद्य न हो; इसी लिए ब्रह्म सर्वज्ञ है ।[५] कठ भाष्य में आचार्य कहते हैं कि जिस आत्मा से अविज्ञेय कोई भी वस्तु नहीं है, वह आत्मा सर्वज्ञ है ।[६] अन्यत्र आचार्य कहते हैं कि सम्पूर्ण भेद में स्थिति हुआ ब्रह्म ही

---

१ मानस उत्तर० ७२
२ वही, उत्तर० ३४
३ वही, अयोध्या०-२११
४ वही, अयोध्या० २५७
५ तै० उ० भाष्य २।१
६ कठभाष्य २।१।३

सबका ज्ञाता है; इसलिए वह सर्वज्ञ है। अतएव वह अन्तर्यामी है अर्थात् समस्त प्राणियों के भीतर अनुप्रविष्ट होकर उनका नियमन करनेवाला भी वही है।

गोस्वामी जी राम के इस सर्वान्तर्यामी स्वरूप को प्रकाशित करते हुए कहते हैं :

(क) गुणातीत सचराचर स्वामी।
राम उमा सब अंतरजामी॥

(ख) अग जगमय सब रहित बिरागी।

(ग) सारद दारुनर सम स्वामी॥

(घ) प्रकृत पार प्रभु सब उर बासी।

(ङ) सर्ब सर्ब गत सर्ब उरालय॥

जिस आत्मा से इंद्रियों का पृथकत्व निर्दिशत है, वह कहीं बाहर है—ऐसा नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वह सबका अन्तरात्मा है।

ऐतरेय भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि जो सम्पूर्ण औपाधिक विशेषता से रहित, नित्य, निरंजन, निर्मल निष्क्रिय, शान्त एक और अद्वितीय है, जो 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियों द्वारा क्रम से समस्त विषयों को बाध कर जानने योग्य है तथा सब प्रकार के शाब्दिक ज्ञान का अविषय है, अत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञा रूप उपाधि के सम्बन्ध से सर्वज्ञ तथा जगत् के सर्व साधारण और अव्यक्त बीज का प्रवर्तक वह ईश्वर ही सबका नियन्ता होने के कारण 'अन्तर्यामी' नाम वाला है।[१]

यहाँ एक तथ्य की ओर संकेत करना समीचीन होगा। गोस्वामी जी राम को सबमें व्याप्त मानते हुए भी उसे सबसे रहित कहते हैं :

(क) अग जग मय सब रहित बिरागी।

(ख) राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी।
सर्ब रहित सब उर पुर बासी॥

ऐसा क्यों ? तत्वतः 'जैसे तन्तु-निर्मित पट में तन्तु का अस्तित्व, तरंग में जल का अस्तित्व, कल्पित सर्प में अधिष्ठान रूप में रज्जु का अस्तित्व, एवं कनक निर्मित कटक-कुण्डल मुकुटादि में कनक का अस्तित्व है; उसी प्रकार 'देश काल वस्तु में ब्रह्म का अस्तित्व है'—ऐसा व्यवहार प्राकृत विवेकी पुरुषों में हुआ

---

१ ऐतरेयोपनिषद् ३।१।३ पर शा० भा०

करता है। वस्तुतः जैसे तन्तुओं से भिन्न होकर पट नाम की कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है, एवं कनक से भिन्न कुण्डलादि पृथक् वस्तु नहीं है और जल से भिन्न तरंग नाम का कोई पदार्थान्तर नहीं है, किन्तु तन्तु आदि में ही पटादि की कल्पना है, ठीक वैसे ही ब्रह्म से भिन्न होकर देश-काल-वस्तु कुछ है ही नहीं। अतः देश-काल-वस्तु में ब्रह्म नहीं, किन्तु देश काल वस्तु ही ब्रह्म में कल्पित है। इसी नाते 'यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु, प्रविष्टान्य प्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्'— जैसे आकाशादि पंचमहाभूत उच्चावच नाना प्रकार के भौतिक प्रपंचों में प्रविष्ट होते हुए भी अप्रविष्ट हैं, उसी तरह मैं महाभूतों में प्रविष्ट भी हूँ और अप्रविष्ट भी हूँ।'

यहाँ एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इंगित करना प्रासंगिक होगा। गोस्वामी जी की दृष्टि में तत्त्व केवल अन्तर्यामी ही नहीं है। अपने प्रसिद्ध सवैया में तुलसीदास कहते हैं :

'अन्तर्जामिहु ते बड़ बाहरजामि है राम'

जहाँ तक मुझे ज्ञात है 'बहिर्यामी' शब्द का इस रूप में प्रयोग प्राचीन संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। यहाँ 'बहिर्यामी' शब्द 'अन्तर्यामी' के विलोम रूप में प्रयुक्त हुआ है। 'अन्तर्यामी' शब्द का प्रथमतः प्रयोग बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त है, जहाँ याज्ञवल्क्य अन्तर्यामी तत्त्व का उपदेश देते हुए कहते हैं :

> यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्मृतः। अप्सु, अग्नौ, अन्तरीक्षे, वायौ, दिवि, आदित्ये, चन्द्रतारके, तमसि, तेजसि, प्राणे मनसि। एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्त्तम्।

यह अन्तर्यामी तत्त्व ही कालान्तर में रामानुज-दर्शन का प्राण बना। तुलसीदास के मत से ब्रह्म का 'पर' रूप उसके 'अन्तर्यामी' रूप से उत्कृष्ट है। तुलसीदास ने इसके समर्थन में बताया कि जब प्रह्लाद से पूछा गया कि ईश्वर कहाँ है, तो उसने गर्व से कहा कि वह सर्वत्र है। प्रह्लाद ने अपना हृदय चीर कर भगवान् को नहीं दिखाया अपितु एक स्तम्भ से उन्हें प्रकट किया। यह 'अन्तर्यामी' तत्त्व पर 'बहिर्यामी' तत्त्व की श्रेष्ठता का प्रमाण है।

योरोपीय दर्शन में परम तत्त्व के 'अन्तर्यामी' और 'पर' स्वरूप को लेकर बहुत मतभेद है। स्पिनोजा ने तत्त्व को प्रपंच से अपृथक्-तादात्म्य सम्बन्ध में अनुस्यूत देखा। अरस्तू ने उसे प्रपंचातीत और 'पर' ही माना और आधुनिक

'थीइस्ट' विचारकों ने इन दोनों का समन्वय स्थापित कर यह घोषणा की कि तत्त्व अन्तर्यामी भी है और पर भी।

गोस्वामी जी का भी यह आशय नहीं है कि ब्रह्म बहिर्यामी मात्र है। वे केवल ब्रह्म की सर्वात्मकता पर ही आग्रह प्रकट करना चाहते हैं। उनकी यह 'बहिर्यामी' संबंधी धारणा 'अन्तर्यामी' धारणा की विरोधी नहीं, उसका पूरक है। प्रसिद्ध जैन संत पूज्यपाद ने 'समाधि शतक' में 'अन्तर्यामी' और 'बहिर्यामी' तत्त्व का बड़ा मनोहर समन्वय स्थापित किया है। वे कहते हैं कि 'अन्तरात्मा' और 'बहिरात्मा' इन दोनों का सामंजस्य और सद्भाव परमात्मा में हो जाता है। तत्वतः परमात्मा संबंधी यह सिद्धान्त जैन सिद्धान्तों के अनुरूप नहीं है। पर हाँ, तुलसी-दर्शन में ऐसा सामंजस्य संगत है। उन्होंने 'अन्तरात्मा' और 'बहिरात्मा' का परमात्मा में सामंजस्य किया है।[१]

'य आत्मा सर्वान्तरः,'[२] श्रुति से सिद्ध है कि आत्मा सबका अन्तर्यामी है। आकाश के समान विभु होने के कारण वह इस नाम-रूप तथा क्रियात्मक सम्पूर्ण जगत् के बाहर तथा सूक्ष्म रूप होने से सबके भीतर भी है और श्रुति के 'प्रज्ञान घन एव',[३] इस उक्ति के आदेश से वह समस्त अन्तर्बाह्य भेद का अतिक्रमण कर सर्वत्र है।[४]

ब्रह्म की सर्वात्मकता का प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

(क) व्यापक बिस्वरूप भगवाना।[५]

(ख) सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति माया धनी।[६]

---

१ R. D. Ranade के 'Pathway to God in Indian literature' पृ० ३०६-८ के आधार पर लिखित।

२ बृहदारण्यक उप० ३।४।१

३ वही ४।५।१३

४ द्रष्टव्य :
(क) मुण्डक उप० १।१।६; २।२।११; ३।२।२५
(ख) ईश, ८
(ग) कठ उप० १।२।२२; २।१।४
(घ) गीता २।१७; ११।३८; १३।३३

५ मानस, बाल० १३

६ वही, बाल० ५१

8697

(ग) राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।[१]

(घ) व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।[२]

(ङ) व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप ।[३]

(च) व्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी ।[४]

(छ) व्यापक अजित अनादि अनंता ।[५]

(ज) व्यापक व्याप्य अखंड अनंता ।।[६]

जो सर्व में सर्वात्मना सम्बद्ध हो, अर्थात् अननुगत घटादि एकदेशियों का अधिष्ठान हो, वही व्यापक है—'सर्वसम्बद्धत्वं हि व्यापकत्वम्—सर्वस्मिन सर्वात्मना सम्बद्धत्वम्—अननुगतानामधिष्ठानमिति।' अन्य घटादि,[७] अन्य घटादि से सर्वात्मना व्याप्त नहीं हो सकते । ऐसा मानने से व्याप्य का स्वरूप ही नष्ट हो जाएगा ।

गोस्वामी जी बहुत आग्रह पूर्वक कहते हैं :

देस काल बिदिसहु माँहीं ।
कहहु कहाँ जँह हरि नाहीं ।।

अन्यत्र तुलसी वाल्मीकि के मुख से राम के प्रति कहलाते हैं :

पूछेहु मोंहि कि रहऊँ कँह, मैं पूछत सकुचाऊँ ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहिं देखावउँ ठाऊँ ।।

उपनिषदों में कहा गया है कि इस आत्म-तत्त्व द्वारा ही जगत् आवृत, संवृत और विधृत है । उद्दालक ने श्वेतकेतु पर विश्वास के साथ प्रकट किया कि यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक तथा सद्रूप आयतन और प्रतिष्ठा वाली है—'सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा ।'[८] श्वेताश्वतर ने सब में उसी तत्त्व को अनुविद्ध देखा और कहा :

---

१ मानस, बाल० ११६
२ वही, बाल० १४७
३ वही, बाल० २०५
४ वही, बाल० ३४१
५ वही, सुंदर २६
६ वही, उत्तर० ७२
७ वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ७५
८ छान्दोग्य उप० ६।८।६

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ : ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥[१]

याज्ञवल्क्य ने खीझ कर गार्गी से कहा कि अतिप्रश्न मत कर अन्यथा तेरी मूर्धा पतित हो जाएगी । हे गार्गी, सूर्य चन्द्र, पर्वत, निमेष, मुहूर्त्त सब अद्वय-अक्षर तत्त्व के भीतर ओतप्रोत है।[२] छान्दोग्य का मंत्र है—'मनो ब्रह्मेति आकाशो ब्रह्मेति, प्राणं ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति।'[३] तैत्तिरीय ने कहा—'तस्माएतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनोवाचमिति । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ति येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।'[४]

जैसे सूर्य में आलोक, जल में शैत्य और अग्नि में ऊष्मा स्वभावसिद्ध है, उसी प्रकार ब्रह्म में आनन्दरूपता स्वभावसिद्ध है। तैत्तिरीय भाष्य में शंकर कहते हैं कि आनन्द परब्रह्म का ही वाचक है ।[५]

गोस्वामी जी अपने राम को तो 'आनन्दहुँ के आनन्ददाता' कहते हैं, क्योंकि उसी आनन्द-सिन्धु के एक सीकर से ही त्रैलोक्य तृप्त हो जाता है :

जे आनंद सिंधु सुखरासी ।
सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुखधाम राम अस नामा ।
अखिल लोकदायक विश्रामा ।[६]

चिदानन्द, परमानन्द आदि शब्दों द्वारा गोस्वामी जी ने ब्रह्म की आनन्द-स्वरूपता की ही अभिव्यक्ति की है :

(क) व्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी ।
चिदानंदु निरगुन गुन रासी ॥[७]
(ख) राम ब्रह्म व्यापक जग जाना ।
परमानंद परेस पुराना ॥[८]

---

१ श्वेताश्वतर उप० ४।४
२ बृहदारण्यक उप० ३।६।१; ३।८।९
३ छान्दोग्य उप० ३।१८।१; ४।१०।४
४ तैत्तिरीय उप० ३।१।१
५ तै० उप० भाष्य २।५
६ मानस बाल० १९७
७ वही, बाल० ३४१
८ वही, बाल० ११६

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'सैषा आनन्दस्य मीमांसा', 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्', 'यो वै भूमा' इत्यादि शतशः श्रुतियों में आत्मा के परमानन्द स्वरूपत्व का ही विशद उल्लेख है।

ब्रह्म स्वयंप्रकाश और स्वयंसिद्ध है

'आत्मा प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय है, अतः इन व्यवहारों से पहले ही इसकी सिद्धि है।[१] आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि जो इसका निराकरण करना चाहता है, वह स्वयं आत्म-स्वरूप है।[२] यदि आत्मा की अस्तित्व-प्रसिद्धि न होती, तो सब किसी को अपने अस्तित्व में अविश्वास होता, पर ऐसा न होने से आत्मा की स्वतः सिद्धता प्रमाणित होती है।[३] द्रष्टा की दृष्टि की और ज्ञाता के ज्ञान का कभी लोप नहीं हो सकता। सापेक्ष बुद्धि का आधारभूत तत्त्व स्वयं निरपेक्ष और इसीलिए स्वतः सिद्ध है।'[४]

ब्रह्म समस्त प्रमाण भावों का उपजीव्य अतः स्वतः प्रमाणातीत है। ब्रह्म की सिद्धि प्रमाणों द्वारा नहीं की जा सकती क्योंकि प्रमाणों का अस्तित्व भी उसी के अधीन है। समस्त प्रकाशक-वर्ग उसी परमात्म-सत्ता से अनुप्राणित है। गोस्वामी जी कहते हैं :

सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवध पति सोई॥[५]

अग्नि जैसे अपने उपजीव्य वायु को प्रकाशित करने में अक्षम है, वैसे ही प्रमाणों की गति भी अपने उपजीव्य ब्रह्म को प्रकाशित करने में कुण्ठित है। यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि चूँकि ब्रह्म में प्रमाणों की गति नहीं है, अतः उसकी सत्ता ही असिद्ध है। वस्तुतः प्रमाणों का उपजीव्य होने से ब्रह्म स्वतःसिद्ध है।

---

१ शारीरक भाष्य, २।३।७
२ वही, २।३।७
३ वही, १।१।१
४ केन १।३ पर शा० भा०
५ मानस, बाल० ११७

मुक्तावलीकार कहते हैं कि स्वप्न में आत्मा प्रकाशमान् है, यह तो सिद्ध ही है, परन्तु बाह्य इन्द्रियों से उसका प्रकाश नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा में उनकी प्रवृत्ति ही नहीं है और उनका उपराम भी हो जाता है। रहा मन, वह भी रथादि रूप से परिणत हो जाता है, इसलिए परिशेष आत्मा ही स्वयंज्योतिः स्वरूप है।[१]

ब्रह्मसूत्र के रत्नप्रभा भाष्य में कथित है कि आत्मा प्रतीति रूप है और उसका भान स्वप्रकाश रूप से होता है।[२]

भगवान् शंकराचार्य आत्मा की स्वयंप्रकाशता और स्वयंसिद्धता निरूपित करते हुए कहते हैं कि जो-जो वस्तुएँ इदं रूप से प्रतीति होती हैं, उन सबका श्रुति ने निषेध किया है, जो 'इदं' इत्याकारक प्रतीति का विषय नहीं है, किसी शब्द का वाच्य नहीं है, वह आत्मा स्वयंप्रकाश होने से किसी से भी वेद्य नहीं है।[३] जैसे प्रकाश रूप होने से दीपक अपने प्रकाश के लिए दीपान्तर की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार स्वप्रकाश आत्मा को अपने ज्ञान के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।[४]

चित्सुखाचार्य कहते हैं कि चिदरूपत्व अकर्मत्व तथा स्वयज्योति श्रुति— इन तीन हेतुओं से आत्मा में ऐसा स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध किया जाता है, जिसके निवारण में कोई समर्थ नहीं है :

चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥[५]

'अहं वा नाहं वा' इस प्रकार का सन्देह अथवा 'नैवाहम्' इस प्रकार का विपर्यास अपने आत्मा में किसी को नहीं होता। सन्देह, विपर्यास आदि का यह अभाव आत्मा में स्वप्रकाश ज्ञानरूपता के बिना नहीं बन सकता। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि श्रुतियों से आत्मा में चिद्रूपत्व की सिद्धि होती है और आत्म स्वप्रकाशत्व साधन में चिद्रूपत्व सर्वथा निर्दुष्ट हेतु है। अकर्मत्व हेतु से भी आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध है। आत्मा में अकर्मत्व न मान कर यदि

---

१ वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, पृ० ६८

२ आत्मा तु प्रतीतित्वात् प्रत्ययः स्वप्रकाशतया भाति।
—ब्रह्मसूत्र पर रत्नप्रभा भाष्य १।१।१

३ तत्वोपदेश, १७, १९

४ आत्मबोध, २९

५ चित्सुखी, प्रथम परिच्छेद, श्लोक ३

ज्ञेयत्व मानें तो स्वाश्रित ज्ञान की विषयता रहने के कारण कर्मत्व और कर्मित्व —इन दो विरोधी कर्मों की वहाँ प्राप्ति होगी। 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' श्रुति से भी आत्मा की स्वप्रकाशता सिद्ध है।'[१]

ब्रह्म की स्वप्रकाशता का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

राम सच्चिदानंद दिनेसा।
नहिं तंह मोह निसा लवलेसा॥
सहज प्रकास रूप भगवाना।
नहिं तहं पुनि बिग्यान बिहाना॥[२]

राम सच्चिदानन्द सूर्य हैं। वे सहज प्रकाशरूप अर्थात् स्वयंप्रकाश हैं। उदमें विज्ञान का अभाव है, क्योंकि विज्ञान जीव-धर्म है।

यहाँ ब्रह्म को सूर्य कहना दोनों दृष्टियों से संगत है। एक तो ब्रह्म सूर्य की भाँति अपने भास्य से विलक्षण और उसके सम्बन्ध से रहित हो कर सब को प्रकाशित करता है, और दूसरे अलिप्त भी है। यथा,

सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय।[३]

और,

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा।
तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥[४]
\+ + +
हरि बिषइक अस मोह बिहंगा।
सपनेहु नहिं अग्यान प्रसंगा॥[५]
\+ + +
निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी।
प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
जथा गगन घन पटल निहारी।
झांपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥

---

१ चित्सुखी, प्रथम परिच्छेद
२ मानस, बाल० ११६
३ वही, उत्तर० ३४
४ वही, बाल० ११६
५ वही, उत्तर० ७३

उमा राम विषइक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥[१]

ज्योतिर्मय ब्रह्म का सर्वप्रकाशत्व और सर्वव्यापकत्व का निदर्शन करते हुए मुण्डक में कहा गया कि निर्मल और कलाहीन ब्रह्म हिरण्यमय परमकोश में विद्यमान है। वह शुद्ध और संपूर्ण ज्योतिर्मय पदार्थों की ज्योति है।[२] उस आत्म स्वरूप ब्रह्म में न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा या तारे। वहाँ बिजली भी नहीं चमकती, अग्नि की तो कथा ही क्या? उसके प्रकाशित होने से ही सब प्रकाशित होता है और यह सब कुछ उसी के प्रकाश से प्रकाशमान है।[३]

'आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते,'[४] तस्य भासा सर्वमिदं विभाति,'[५] येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः'[६], 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्'[७], 'क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत,'[८] आदि अन्य श्रुतियां और स्मृतियाँ भी ब्रह्म का स्वप्रकाशत्व निरूपित करती हैं।

राम समस्त जगत के प्रकाशक हैं :

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ग्यान गुन धामू ॥
जासु सत्यता ते जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया ॥[९]

---

१ वही, बाल० ११७
२ हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥
—मुण्डकोपनिषद् २।२।९
३ न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
—मुण्डकोपनिषद् २।२।१०
४ बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।६
५ कठोपनिषद् २।२।१५; श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१४, मुण्डक उपनिषद् २।२।१०
६ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।९।७
७ गीता, १५।१२
८ वही, १५।३३
९ मानस, बाल० ११७

जगत और राम में प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध है। जगत् जड़ है। उसमें स्वतः प्रकाशन की शक्ति नहीं है। परिच्छेद के अवभास को अनात्माभास कहते हैं, वही अविद्या, जड़ शक्ति, शून्य या प्रकृति रूप से प्रथित है। ब्रह्म चेतन है, प्रकाशक है, द्रष्टा है, जड़ माया, मोह अर्थात् अज्ञान की सहायता से सत्य सी प्रतीत होती है। अनात्मा सर्वकाल में आत्मा से ही सिद्ध है, क्योंकि प्रकाशक के बिना प्रकाश्य की, दृष्टा के बिना दृश्य की सिद्धि नहीं होती।

"परमात्म-प्रकाश के अनन्तर ही सर्व दृश्य का प्रकाश होता है और परमात्म-प्रकाश से ही सकल दृश्य प्रकाशित होता है। चक्षुरादि इंद्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार ये सभी अपने-अपने प्रकाश्य विषयों का प्रकाशन करने वाले हैं, अतः ज्योति हैं। परन्तु इन ज्योतियों का भी प्रकाशन करने वाला विशुद्ध-भान-रूप परमात्मा ज्योतियों का भी ज्योति है, 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः पर-मुच्यते।'

जैसे शक्ति की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अपने आधारभूत शक्तिमान से ही होते हैं, वैसे ही अचित् की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अचित् के आधारभूत चित् के ही परतन्त्र हैं। यह स्पष्ट ही है कि अचित् की प्रवृत्ति और प्रकाश चित् ही से है। यदि वह स्वतः प्रकाश हो तब तो उसे अचित् ही नहीं कह सकते। ऐसे ही अज्ञान की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश यह सभी ज्ञान-स्वरूप परमात्मा से ही है।"

'लघु वाक्य वृत्ति' में शंकराचार्य कहते हैं कि जैसे अग्नि के संयोग से तप्त जल अग्नि के ही ताप से देह को तपाता है, क्योंकि ऊष्मा जल का स्वाभाविक गुण नहीं है, वह अग्नि के सम्पर्क से ही उसे प्राप्त हुआ है, उसी प्रकार चिति से ही प्रकाशित होने वाली बुद्धि भी चिति के प्रकाश से सारे जगत् को प्रकाशित करती है, उसमें स्वयं प्रकाश का सामर्थ्य नहीं है।[१]

"इस तरह परमानन्द रसात्मक भगवान् से ही सत्ता, स्थिति, स्फूर्ति प्राप्त करके नीरस, असत् स्फूर्तिरहित प्रपंच सरस, सत्य, स्फूर्तिमान्-सा प्रतीत हो रहा है। अतएव जैसे दहन-सामर्थ्य-शून्य लौहपिंड को अनित्य और सातिशय दहन-सामर्थ्य प्रदान करने वाला, नित्य निरतिशय दहन-सामर्थ्य-संपन्न अग्नि, दग्धा का भी दग्धा कहा जाता है, वैसे ही अनित्यों को नित्य अचेतनों को चेतन, असत्यों को सत्य बनाने वाले वेदान्तवेद्य परमानन्द रसात्मक भगवान् नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, सत्यों के सत्य कहते जाते हैं। पारमार्थिक सत्य,

---

१ लघुवाक्य वृति, श्लोक ६।

चैतन्य, नित्य आनन्द रस स्वरूप तो भगवान् ही हैं, इसी अभिप्राय से 'नित्यो नित्यानां चैतन्यश्चेतनानामेको बहूनाम्' 'सत्यस्य सत्यम्' इत्यादि श्रुति वचन भगवान को नित्य का नित्य, सत्य का सत्य कहते हैं। गोस्वामी श्री तुलसी-दास जी भी अपने राम को प्राण के प्राण, जीव के जीव, सुख के सुख कहते हैं :

'आनन्दहु के आनंददाता'

* * *

'प्रान-प्रान के जीव के जिय सुख के सुख राम।
तुम तजि तात सुहात गृह, जिन्हहि तिन्हहि विधि वाम ॥"

'इन्द्रियाँ तो स्थूल हैं। वे जिन शब्द स्पर्शादि विषयों द्वारा अपने को प्रकाशित करने के निमित्त हैं, वे विषय अपने कार्यभूत इंद्रिय-वर्ग से पर-सूक्ष्म महान् एवं प्रत्यगात्म स्वरूप हैं। मन आदि अचेतन पदार्थों की भी प्रवृत्ति देखी ही जाती है। यही उनके चेतन अधिष्ठाता के अस्तित्व का अनुमापक लिंग है। मन आदि इंद्रियाँ नियम से प्रवृत्त हो रही हैं। उनकी प्रवृत्ति बिना किसी चेतन अधिष्ठाता के नहीं हो सकती।' गोस्वामी जी कहते हैं :

विषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक ते एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई ॥[१]

अर्थात् विषय से इंद्रियाँ, उनसे देवता, और उनसे भी बढ़कर जीवात्मा, सचेत हैं। इन सबका जो परम प्रकाशक है, वही अनादि राम अयोध्यापति हैं।

विषय से अधिक सचेत इंद्रियाँ हैं, इंद्रियों से अधिक चेतन देवता हैं, इन्हीं के अनुग्रह से इंद्रियाँ अपने विषय के ग्रहण के करने में समर्थ होती हैं। देवताओं से भी अधिक सचेतन जीव है। जिसके होने से देवता भी अनुग्रह करने में समर्थ होते हैं। परन्तु इन सबका परम प्रकाशक राम है।

सच्चिदानन्द राम से प्रकाश लेकर चिदाभास रूप जीव अन्तःकरण का प्रकाशक होता है और जीव से चैतन्य का निक्षेप ग्रहण कर, अन्तःकरण इंद्रियों का प्रकाशक होता है और अन्तःकरण से प्रकाश लेकर इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों को प्रकाशित करतीं हैं। परन्तु सूक्ष्मत्व, अवान्तरत्व, व्यापकत्व, कारणत्व प्रवर्तकत्व प्रकाशकत्व आदि धर्मों से जो स्वयं सर्वत्र व्यापक होकर इंद्रियों से चिदाभास पर्यन्त कार्यकरण संघात को अपनी सत्ता मात्र से प्रवृत्त करता

---

१ मानस, बाल० ११७

है, वह राम सबका परम प्रकाशक है।

मानस में वाल्मीकि राम का स्तवन करते हुए कहते हैं :

'जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे'[१]

संसार दृश्य है और राम द्रष्टा। द्रष्टा होने से राम साक्षी हैं। 'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्'[२] इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार 'साक्षी' शब्द का अर्थ द्रष्टा ही है।

दृश्य-प्रपञ्च के अपलाप के अनन्तर साक्षी ही अवशिष्ट रहता है। साक्षी का प्रतिषेध असम्भाव्य है क्योंकि असाक्षिक प्रतिषेध अप्रामाणिक है। स्वसत्ता और स्वप्रतिषेध युगपत् नहीं बन सकते। इसलिए जो स्वयंप्रकाश है, वही इस प्रतिषेध का साक्षी और दृश्य का द्रष्टा है। उसी से जगत् आत्मवान है। राम सर्वद्रष्टा है। भुशुण्डि गरुड़ को राम का परिचय देते हुए कहते हैं :

'सब दरसी अनवद्य अजीता'[३]

'पंचदशी' के तत्वदीप प्रकरण में कहा गया है कि साक्षी न तो जीव है, न ईश्वर है, किन्तु शुद्ध प्रत्यग्ब्रह्म ही है, अन्यथा 'केवलोनिर्गुणम्'—इस श्रुति से विरोध होगा, इसलिए अस्पृष्ट विभाग (निर्विभाग) सर्वप्रत्यग्भूत ब्रह्मरूप ही साक्षी है। 'पंचदशी' के ही कूटस्थ दीपनायक प्रकरण में कहा गया है कि स्थूल और सूक्ष्म इन दो देहों का जो अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य है, वह साक्षी है अर्थात् अपने अस्वावच्छेद का साक्षात् ईक्षण करने से और स्वयं निर्विकार होने से उक्त चैतन्य ही 'साक्षी' कहा जाता है।

केन भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि समस्त प्रतीतियाँ जिसकी विषय होती हैं, वह आत्मा समस्त बोधों के समय उपलब्ध होता है। संपूर्ण प्रतीतियों का साक्षी और चिच्छक्ति स्वरूपमात्र होने के कारण वह प्रतीतियों द्वारा सामान्य रूप से प्रतीतियों में ही लक्षित होता है और संपूर्ण प्रतीतियों का साक्षी होने पर ही ब्रह्म का वृद्धि-क्षय शून्य साक्षित्व, नित्यत्व, विशुद्ध स्वरूपत्व, आत्मत्व, निर्विशेषत्व और सम्पूर्ण भूतों में अनुस्यूत एकत्व सिद्ध हो सकता है।[४]

---

१ मानस, अयोध्या० १२७

२ पाणिनि सूत्र ५।२।९१

३ मानस, उत्तर० ७२

४ केन भाष्य २।४

ब्रह्म : एक, अद्वैत और भेदातीत है

अद्वैत-सिद्धान्त का उपन्यास करते हुए ज्ञान के स्वरूप-विवेचन के क्रम में गोस्वामी जी लिखते हैं :

ज्ञान मान जहँ एकौ नहीं।
देखहिं ब्रह्म समान सब माहीं॥

द्वैत की निन्दा और उसका खण्डन करते हुए तुलसीदास कहते हैं :

(१) क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।

(२) द्वैत रूप तम कूप परौं, नहिं अस कछु जतन बिचारौं।

(३) सेवत साधु द्वैत भय भागे।

तुलसी के मत से राम का पारमार्थिक स्वरूप अद्वैत और भेद-रहित ही है :

(१) एक अनीह अरूप अनामा।

(२) जे ब्रह्म अजमद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं।

(३) सकल बिकार रहित गत भेदा।

(४) उमा एक अखंड रघुराई।

(५) स्वबस अनन्त एक अबिकारी।

(६) नट इव कपट चरित कर नाना।
सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥

(७) व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी।

(८) त्वमेकदभुतं प्रभुं। निरीहमीश्वरं विभुम्॥
जगतगुरुं च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलम्॥

ईश्वर और जीव का भेद भी पारमार्थिक नहीं अपितु कल्पित ही है। भुशुण्डि स्पष्ट कहते हैं :

मुधाभेद जद्यपि कृत माया।
बिनु हरि जाय न कोटि उपाया॥

'तत्वमसि' महावाक्य का श्रुति मतानुकूल अनुवाद करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं :

सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

'जैसे नेत्र-कनीनिका के सामने तृण रख कर देखने से 'द्वौ चन्द्रौ' ऐसा भ्रमरूप ज्ञान होता है, 'वितस्तिपरिमितः सूर्यः' ऐसा भ्रम होता है, वैसे ही भेद-प्रत्यक्ष भी भ्रम ही है, प्रमा नहीं।'

चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ।
प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥
उमा राम विषइक अस मोहा।
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥[१]

चूँकि किसी युक्ति से भी आत्मा में क्रिया, कारण, फल इत्यादि भेद सिद्ध नहीं होता इस कारण आत्म-वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जानने मात्र से ही यह द्वैत उत्पन्न हुआ है। आकाश में रज, धूम, तुषार और नीलता इत्यादि भ्रान्ति के समान यह सब क्रिया, कारक और फलरूप संसार, अहङ्कार, ममता, यत्न और इच्छा आदि का मिथ्याध्यास ही है।[२]

ब्रह्म की निर्गुणता गोस्वामी जी को अभिमत है :

(क) अगुन अखंड अनंत अनादी।[३]

(ख) व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत बिनोद।[४]

(ग) व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।[५]

(घ) अकल अगुन अज अनघ अनामय।[६]

अतः चेतन तत्त्व निर्गुण होने के कारण अपने गुण के भेद से भिन्न नहीं होता—'न अपि स्वगुणभेदभिन्नं निर्गुणत्वात् चैतन्यात्मा।'[७]

---

१ मानस, बाल० ११७

२ यस्मान्न कथाचिदपि युक्त्यात्मनः कारकत्वं क्रियात्वं फलत्वञ्चोपपद्यते। तस्मादात्मवस्तुयाथात्म्यानवबोधमात्रोपादानत्वान्नभसीव रजोधूमतुषारनीलत्वाद्याभासो यथोक्तात्मनि सर्वोऽयं क्रियाकारकफलात्मकसंसारोऽहंममत्व-यत्नेच्छादिमिथ्याध्यास एवेति सिद्धम्।

—नैष्कर्म्यसिद्धि, द्वितीय अध्याय

३ मानस, बाल० १४४

४ वही, बाल० १४७

५ वही, बाल० २०५

६ वही, लंका० ११०

७ गीता ५।१६ पर शा० भा०

ब्रह्म निरवयव है :

'निर्मम निराकार निरमोहा ।[१]

निरवयव होने के कारण एक ही चेतन के दो रूप होने सम्भव नहीं—'चैतन्यैकस्य निरवयवत्वाद् द्विधाभावानुपपत्तेः । अतः ब्रह्म-तत्त्व अद्वैत है । अग्नि जैसे तप्त लौह-पिण्ड को सर्वात्मना व्याप्त कर स्थित है, वैसे ही ब्रह्म भी सर्व को सर्वात्मना व्याप्त कर स्थित है । पर जैसे अग्नि का व्याप्य अंश लौह-पिण्ड अग्नि से व्यतिरिक्त ही है, वैसे ही ब्रह्म का व्याप्य भी ब्रह्म से भिन्न ही होगा, ऐसी आशंका होती है । पर यह आशंका युक्त नहीं है क्योंकि गोस्वामी जी कहते हैं :

व्यापक व्याप्य अखण्ड अनंता ।'[२]

यहाँ व्याप्य और व्यापक पद द्वारा ब्रह्म का विवर्तश्रियरूप अधिष्ठानत्व और अद्वैतत्व सूचित है । ब्रह्म अपने कार्य संसार में उसी प्रकार व्यापक है 'यथा पट तन्तु घटमृत्तिका सर्प कनक कटकाङ्गदादी ।'

'न तु तद् द्वितीयमस्ति',[३] 'एकत्वम्', 'नास्ति द्वैतम्', एकमेवाद्वितीयम्',[४] 'एकमेव सत्', 'नेह नानास्ति किञ्चन',[५] 'एके वैवानुद्रष्टव्यम्',[६] 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्',[७] 'एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः',[८] 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा'[९] इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म का अद्वैत तत्व ही प्रतिपादित है । कठ की उक्ति है कि श्रुति से जायमान अद्वैत बुद्धि तर्क द्वारा खण्डनीय नहीं है ।

गीता में कथित है कि महान् दुःखों से त्राण देने वाली यह अद्वैत-वासना परमात्मा की कृपा से विरल हृदयों में ही उद्भूत होती है ।

खण्डनखण्डखाद्यकार कहते हैं कि विषयान्तर के संचार के उच्छेद और अनवस्था के भय से जहाँ आत्म अद्वैत-बुद्धि को बाध-बुद्धि-धारा की समाप्ति

---

१ मानस, उत्तर० ७२

२ छान्दोग्य १।७।६ पर शा० भा०

३ बृहदारण्यक उप० ४।२३

४ छान्दोग्य उप० ६।२।१

५ बृहदारण्यक उप० ४।४।१९

६ वही, ४।४।२०

७ श्वेताश्वर उप० १।१२

८ वही, ६।११

९ कठ उप० २।९

मानेंगे, उसी बुद्धि मे श्रुति अवकाश पा कर सम्पूर्ण बुद्धि के विषय ज्ञान-प्रवाह को अद्वैत मे स्थापन करती हुई किसी प्रमाण में किसी भी विषय में बाधित नहीं हो सकती। अतः दूर दौड़ने से श्रान्त—अतएव विनिवृत्त—बाध परम्परा पृष्ठ-धावी शत्रु के सदृश अद्वैत-श्रुति से जीती जाती है।[1]

अद्वैत स्वप्रकाश है, उसमें मान-मेय भाव नहीं है :

ज्ञान-मान जँह एकौ नाहीं।
देखहिं ब्रह्म समान सब माहीं॥

'अतः अद्वैत श्रौत-बोध का विषय नहीं स्वरूप ही है। यद्यपि ब्रह्माद्वैत संस्कृत मन की वृत्ति का विषय होता है, तथापि जब मन ही कल्पित है तो वृत्ति कल्पित है ही। इसलिए अद्वैत मे वास्तविक मान-मेय भाव होता ही नहीं।'

उपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्म मे किसी भी प्रकार का भेद या व्यभिचार नहीं है। ब्रह्म में भेद, गति, उत्क्रान्ति आदि की प्रतीति का हेतु उपाधि का योग ही है।

गोस्वामी जी कहते है कि नाम और रूप ये ईश्वर की उपाधियाँ हैं :

'नाम रूप दुइ ईस उपाधि'[2]

नाम-रूप आदि भेद अधिष्ठान के अज्ञान से कल्पित हैं। जैसे एक ही जल में तरंग, फेन, बुदबुद आदि की कल्पना केवल प्रातीतिक है, वैसे ही एक ही ब्रह्म में नाम, रूप आदि के भेद की कल्पना भ्रम मात्र है। तरंग जैसे जल से भिन्न कुछ भी नहीं, वैसे ही ब्रह्म से व्यतिरिक्त अन्य किसी का भी सद्भाव नहीं है।

भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि आत्मा से भिन्न अनात्मभूत तथा उससे भिन्न देश-काल में रहने वाली कोई भी सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ अथवा भूत, भविष्य या वर्त्तमान-कालीन वस्तु नहीं है। अतः सम्पूर्ण अवस्थाओं से सम्बन्धित नाम और रूप ब्रह्म से ही आत्मवान हैं, किन्तु ब्रह्म तद्रूप नहीं है। ब्रह्म का निषेध करने पर वे रह ही नहीं सकते, इसी से वे तद्रूप कहे जाते हैं। उन उपाधियों से ही ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान इन शब्दों का तथा इनके अर्थ आदि सब

---

१ एवं च सति यत्रैव गत्वा बाधबुद्धि परम्पराविच्छेदो विषयान्तरसंचारोच्छेदभयाद् अनवस्थाभयाच्चाभ्युपेयः ; तस्यामेव बुद्धौ पदमारोप्याद्वैत श्रुतिः सर्वं तद्विषय-विषयिप्रवाहमद्वैते स्थापयन्ती न केनापि प्रमाणेन क्वचिदपि विषये बाधितुं शक्या।

—खण्डन खण्ड खाद्य, प्रथम परिच्छेद

२ मानस, बाल० २१

प्रकार के व्यवहार का पात्र बनता है।[१]

दृश्य-प्रपंच के मिथ्यात्व और ब्रह्म से उसके अभेद का सिद्धान्त गोस्वामी जी को मान्य है :

रजत सीप महुँ भास जिमि,
जथा भानु कर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ,
भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटे कोई।
बिनु जागें न दूरि दुख होई॥[२]

× × ×

भूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई।
जागे जथा सपन भ्रम जाई॥[३]

जैसे भ्रान्त दृष्टि से रज्जु सर्परूप प्रतीत होती है, वैसे ही आत्मा भी मूढ़ दृष्टि से जगत्‌रूप भासता है। स्वप्नावस्था का जगत् विज्ञानस्वरूप होने पर भी जैसे ज्ञान, ज्ञेय आदि भेद से प्रतीत होता है, वैसे ही यह विज्ञानमात्र ही जाग्रतकालीन चराचर जगत् कहीं भेद से और कहीं अभेद से भासमान होता है।[४]

जागरित अवस्था में जैसे स्वप्न के दृश्य का विलय हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान के बोध से कार्यात्मक प्रपञ्च का बाध हो जाता है :

---

१ तैत्तिरीय भाष्य २।६

२ मानस, बाल० ११७–१८

३ वही, बाल० ११२

४ रज्जुर्यथा भ्रान्तदृष्ट्या सर्परूपा प्रकाशते।
आत्मा तथा मूढबुद्ध्या जगद्रूपः प्रकाशेत॥
ज्ञानज्ञेयप्रभेदेन यथा स्वाप्नं प्रतीयते।
विज्ञानमात्रमेवैतत् तथा जाग्रच्चराचरम्॥
—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक संख्या २१, १९

'जेहि जाने जग जाई हेराई'[१]

का यही अभिप्राय है।

'दृश्य-प्रपञ्च की प्रतीति मनः स्पन्दन के ही अधीन है। जाग्रत और स्वप्न में मनः स्पन्दन अविरत हुआ करता है, इसलिए उस अवस्था में प्रपञ्च दीख पड़ता है। सुषुप्ति और समाधि में मन का उपराम हो जाता है। अतः कुछ दृश्य और भेद देखने में नहीं आता, इससे उक्त सिद्धान्त उपपन्न है। चलित-भ्रान्तचित्त के अधीन जिसकी प्रतीति है, उसका सत्यत्व कैसे कहा जाए? अतः अद्वैत-ही परमार्थ है। द्वैत सभी उसी में कल्पित है।'

भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि मृगतृष्णा, रज्जु और आकाश के स्वरूप का ज्ञान होने से जैसे मृगजल, रज्जु-सर्प और आकाश-मालिन्य का बाध हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्या ज्ञान से प्रतीत होने वाले समस्त प्रपञ्च अर्थात् नाम, रूप और कर्म इन तीनों का, जो क्रिया कारक और फलरूप ही हैं, स्वात्मतत्त्व के यथार्थ ज्ञान द्वारा बाध हो जाता है।[२] उस परमार्थ सत्य ब्रह्म में उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय सम्पूर्ण लोक गन्धर्व-नगर, मरीचिका, जल और माया के समान आश्रित हैं; ये परमार्थ-दर्शन के अनन्तर बाधित हो जाने वाले हैं।[३] अतः सिद्ध है कि इस सर्वात्मक ब्रह्म-विषयक विज्ञान से ही संसार का आत्यन्तिक अभाव होता है।[४]

राम इस दृश्य-प्रपञ्च के अभिन्ननिमित्तोपादनकारण हैं; वैसे ही जैसे ऊर्णनाभ तन्तु का और साक्षी चेतन स्वप्न-प्रपञ्च का। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया—'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेति'[५]। वहीं आगे कथित है, 'सो तपोऽतप्यत स तपस्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च;'[६] छान्दोग्य का वचन है—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।'[७]

मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) किसी अन्य उपकरण की अपेक्षा न कर स्वयं ही अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं

---

१ मानस, बाल० ११२
२ कठ भाष्य, १।३।१३
३ वही. २।३।१
४ तैत्तिरीय भाष्य १।१२
५ तैत्तिरीय उप०, २।६
६ वही,
७ छान्दोग्य उप० ६।२।३

को रचती है अर्थात् बाहर उनका प्रसार करती है और पुनः उसी को गृहीत भी कर लेती है, तथा जैसे पृथिवी में व्रीहि-यव से वृक्ष पर्यन्त समस्त औषधियाँ उससे अभिन्न ही उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित पुरुष से उससे विलक्षण केश और लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यह समस्त जगत् किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा न कर अक्षर ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है :

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामषोधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतःपुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥[१]

मानस में भी ऐसा ही उल्लेख है। ब्रह्मा राम की स्तुति करते हुए कहते है :

जेहि सृष्टि उपाई त्रिविध बनाई संग सहाय न दूजा ।
सो करहु अघारी चित हमारी जानिय भगति न पूजा ॥
जो भव भय भंजन मुनि मन रंजन खंडन बिपति बरूथा ।
मन बच क्रम बानी छाड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा ॥[२]

भगवान् अपने सङ्कल्प से ही सृष्टि करते हैं। 'संग सहाय न दूजा' का अर्थ है—स्वभिन्न कारणेतर की अपेक्षा के बिना ही ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि करता है, वैसे ही जैसे स्वप्न में जीव सम्पूर्ण पदार्थों को चैतन्य देह से रचता है।

राम ही सृष्टि के आदि कारण हैं। यों ब्रह्मा स्रष्टा कहे जाते हैं, परन्तु उनका जन्म भी भगवान के नाभि-कमल से हुआ है। कहा भी है :

'तुम ब्रह्मादि सकल जग स्वामी'[३]

तुलनीय :
Friendless was the mighty Lord of worlds,
Felt defect—Therefore created spirits.
Blessed mirrors of his blessedness.
— Schiller

१ मुण्डक उप० १।१।७
२ मानस, बाल० १८५
३ तुलनीय :

इस जगत् की ब्रह्म से इतर अन्य से—अचेतन प्रधान से, अचेतन परमाणुओं से, अभाव (शून्य) से अथवा संसारी (हिरण्यगर्भ) से उत्पत्ति आदि की कल्पना नहीं की जा सकती।[१]

उपनिषदों में सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में परस्पर वैमत्य है। तैत्तिरीय[२] में आकाशपूर्वक और छान्दोग्य[३] में तेजपूर्वक सृष्टि होने की बात कही गई। प्रश्नोपनिषद्[४] में कहा गया कि उसने प्राण उत्पन्न किया, प्राण से श्रद्धा उत्पन्न की। ऐतरेय उपनिषद्[५] में किसी क्रम के उल्लेख के बिना ही सृष्टि का वर्णन है। पर यह सभी उपनिषदों को समान रूप से मान्य है कि एक अद्वितीय ब्रह्म ही भूत-भौतिक प्रपञ्च का कारण है।

गीता में भगवान् कहते हैं कि 'इस सम्पूर्ण जगत् का धाता, पिता, माता और पितामह मैं ही हूँ',[६] 'मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण हूँ, मेरे से ही सब जगत् चेष्टा करता है,'[७] जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है, वह मैं ही हूँ।'[८]

भागवत में भी कथित है कि जो इस जगत् के जन्म, स्थिति और लय का कारण और स्वयं कारण-रहित है, जो स्वप्न, जागरित और सुषुप्ति अवस्थाओं में तथा समाधि में अनुस्यूत रहता है और जिससे देह इन्द्रियाँ आदि जीवित हैं, वही परमात्मा है।[९]

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥
—गीता ११।३७

१ न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्त्वा अन्यतः प्रधानादचेतनादणुभ्योऽभावात् संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्।
—शारीरक भाष्य १।१।२

२ तैत्तिरीय उप० २।१
३ छान्दोग्य उप० ६।२।३
४ प्रश्न उप० ६।४
५ ऐतरेय उप० ४।१।२
६ गीता, ९।१७
७ वही, १०।८
८ वही, १०।३९
९ भागवत, ५।३।३५

मानस में भी ब्रह्मरूप राम को ही अखिल विश्व का आदि और परम कारण कहा गया है। विश्वामित्र के साथ यज्ञ-रक्षा के लिए अग्रसर होते हुए राम के सम्बन्ध में कवि की उक्ति है :

पुरुषसिंघ दोउ बीर हरषि चले मुनि भय हरन।
कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥[१]

अखिल विश्व का कारण प्रकृति है, राम उसके भी अधिकरण हैं, आश्रय हैं। अतः उन्हें 'कारण-करण' कहा गया।

राम ही अखिल जड़-चेतन विश्व और प्राणि-मात्र में व्याप्त हैं :

'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि'

और राम ही विश्व की समन्त चेतना के मूल स्रोत हैं :

बिषय करन सुर जीव समेता।
सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई॥[२]

शंकर उमा से कहते हैं :

उमा राम की भृकुटि बिलासा।
होई बिस्व पुनि पावइ नासा॥[३]

राम ही विश्व के उत्पत्ति कारण भी हैं और लय कारण भी।

तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया कि जिससे ही समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं, और जिसमें ये लीन होते हैं, उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा कर; वही ब्रह्म है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।'[४]

यहाँ भी ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण ही माना गया है। यदि ब्रह्म को उत्पत्ति कारण कहें तो उसमें निमित्त कारणता का बोध होगा

---

१ मानस, बाल० २०८
२ वही, बाल० ११७
३ वही, लंका० ३५
४ तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१

और यदि ब्रह्म को केवल लय कारण कहें तो उपादानकारणता की सिद्धि होने पर भी निमित्त कारणता की सिद्धि नहीं होगी। ब्रह्म जगत् का उत्पत्ति कारण भी है और लय कारण भी, यह कहने से ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान सिद्ध होता है।[१] किसी अन्य अधिष्ठाता के अभाव में ब्रह्म को ही निमित्त कारण माना जाता है और यदि उसको उपादान कारण न मानें तो श्रुतियों की यह प्रतिज्ञा कि 'एक के विज्ञान से सब का विज्ञान हो जाता है'[२] कदर्थित हो जाएगी।

ब्रह्मसूत्र के 'अभिध्योपदेशाच्च' सूत्र की व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं कि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' और 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इस प्रकार के सृष्टि-सङ्कल्प के उद्देश्य से प्रतीत होता है कि आत्मा निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी। सङ्कल्प पूर्वक स्वतन्त्र प्रवृत्तिरूप कारण से आत्मा निमित्त कारण प्रतीत होता है और 'बहु स्याम्' इस प्रकार अनेक रूप में उत्पन्न होने का संकल्प आत्मा ही करता है, इससे प्रतीत होता है कि वह उपादान कारण भी है।[३]

---

१ केचिदभिन्ननिमित्तोपादानत्वस्य लाभाय।
इदमेकमेव लक्षणमस्येति प्राहुराचार्याः॥
—सिद्धान्त कल्पवल्ली, १।१५

२ (क) उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतविज्ञातं विज्ञातम्।
—छान्दोग्य उपनिषद् ६।१।२

(ख) कस्मिन्नु सर्वमिदं विज्ञातं भवति।
—मुण्डक उपनिषद् १।१।७

(ग) आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।
—बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।६

३ अभिध्योपदेशश्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रकितित्वे गमयति 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति', 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति च। तत्राऽभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्य प्रवृत्तेः कर्तेति गम्यते, बहुस्यामिति प्रत्यगात्मविषयत्वाद् बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिरित्यपि गम्यते।
—शारीरक भाष्य १।४।२४

ब्रह्म इस जगत् का उपादान-कारण तो है, पर वह परिणामी नहीं है। यदि ब्रह्म का जगदाकार परिणाम हो तो प्रश्न होगा कि क्या समग्र ब्रह्म जगदाकार में परिणत हो जाता है या उसका एक देश ? इसमें प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि समग्र ब्रह्म के जगदाकार परिणत होने पर तो जगत् से अतिरिक्त ब्रह्म के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि एक देश से परिणाम मानेगें तो ब्रह्म को निरवयव कहने वाले वचनों से विरोध होगा। उक्त प्रकार के आक्षेप के परिहार के लिए विवर्त्तवाद का ही आश्रय लेना होगा।[१] बादरायण के 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि'[२] सूत्र का यही आशय है कि जैसे जीव के स्वरूप का उप-मर्दन किए बिना ही स्वप्न देखने वाले जीवात्मा में अनेक आकार-प्रकार वाले स्वप्न-पदार्थों की सृष्टि बनती है, वैसे ही ब्रह्म के स्वरूप में कुछ भी विकृति न होकर आकाशादि प्रपंच की उत्पत्ति होती है।

स्वप्न का उदाहरण देते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

एहि बिधि जग हरि आश्रित रहइ।
जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जे सपने सिर काटे कोई।
जागे बिन दुख दूर न होई ॥[३]

स्वप्न के विकल्प में केवल मन ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप होकर विचित्रया भासता है। उसी प्रकार शुद्ध संवित् भी विचित्राकार भासती है।[४]

---

१ अस्योपादानत्वं विश्वाकृत्या विवर्तमानत्वम्।
तत्र विवर्तः स्वासमसत्ताकदन्यथा भावः ॥
—सिद्धान्त कल्पवल्ली १।१६

२ ब्रह्मसूत्र, २।१।२८

३ मानस, बाल० ११८

४ न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुदः प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता।

—बृहदारण्यक उप० ४।३।१०

रावण-वध के अनन्तर ब्रह्मा राम की स्तुति करते हुए कहते हैं :

अनवद्य अखंड न गोचर गो।
सब रूप सदा सब होई न गो॥
इति वेद वदंति न दंतकथा।
रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा॥

अतः अविद्या द्वारा प्रपञ्च रूप से विवर्त्तमानता रूप उपादानता ही ब्रह्म में अभीष्ट है, जैसे रज्जु आदि में आरोपित सर्प आदि को अधिष्ठानता है, वैसे ही ब्रह्म में जगतरूप विवर्ताधिष्ठानता है। गोस्वामी जी इसी रज्जु-सर्प दृष्टान्त को उदाहृत करते हुए कहते हैं :

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुराः।
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः॥[1]

ब्रह्म अप्रमेय अव्यक्त और अतीन्द्रिय है :

तत्त्व इन्द्रिय-संवेदनों और बुद्धि-विकल्पों द्वारा अग्राह्य और अनिर्वाच्य है। श्रुतियों ने अनेकशः इस तत्त्व की घोषणा की कि परमतत्त्व मन बुद्धि और वाणी का अविषय है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। केन की उक्ति है—'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'।[2] श्वेताश्वतर का मंत्र है 'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता'।[3] बृहदारण्यक ने कहा—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'[4], 'नान्यदतोऽस्तिविज्ञातृ'।[5] केन ने अपनी परवशता प्रकट करते हुए कहा कि किस प्रकार शिष्य को इस ब्रह्म का उपदेश करना चाहिए, वह हम नहीं जानते। वह विदित से अन्य तथा अविदित से भी परे है—'यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।'[6]

'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा'[7], 'स एष नेति

१ मानस, बालकाण्ड, श्लोक संख्या ६
२ केन उप० १।१।४
३ श्वेताश्वतर उप० ३।१९
४ बृहदारण्यक उप० २।४।१४
५ वही, ३।८।११
६ केन उप० १।१।३
७ मुण्डक उप० ३।१।८

नेत्यात्मा गृह्यो नाहि गृह्यते',[१] 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्,'[२], 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्य नात्म्ये निरक्त निलयेन'[३] इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्म की अप्रमेयता का ही प्रतिपादन करती हैं।

ब्रह्म अप्रमेय है। शब्दादि से रहित ('अशब्दमस्पर्शम्') होने के कारण वह प्रत्यक्ष का, लिंग-रहित ('नैव च तस्य लिंगम्') होने के कारण अनुमान का और हेतु तथा दृष्टान्त से वर्जित ('हेतुदृष्टान्तवर्जितम्') होने के नाते वह उपमान का अविषय है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्रुतियों के साक्ष्य से ब्रह्म शब्द का भी अविषय है। ब्रह्म में अन्यथा उपपत्ति का अभाव होने से वह अर्थापत्तिका विषय नहीं है। जो ब्रह्म 'अस्ति रूप' और 'तिहुँ काल एक रस' है, वह अनुपलब्धि का भी विषय नहीं हो सकता। अतः ब्रह्म अप्रमेय ही है। इसी अभिप्राय से गोस्वामीजी कहते हैं :

बलमप्रमेयमनादिमजव्यक्तमेकगोचरं।[४]

और,

शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदम्।[५]

प्रमाता, प्रमाण इत्यादि समस्त व्यवहार जड़ वस्तु को ही विषय करने के निमित्त से हैं। प्रत्यगात्मा को विषय करने में इनकी गति नहीं है।

प्रत्यक्षादि दृष्टि दृश्य, परिच्छिन्न, जड़-स्वरूप रूप आदि को ही विषय करने वाली है।[६] अतएव अदृश्य, अपरिच्छिन्न, चेतन, स्वयम्प्रकाश आत्मा को वह कैसे

१ बृहदारण्यक उप० ३।९।२६

२ मुण्डक उप० १।१।६

३ तैत्तिरीय उप० २।७।१

४ मानस, अरण्य० ३२

५ वही, सुन्दर० मंगलाचरण, १

६ (क) Experience is by no means the only field to which our understanding can be confined....General truths which at the same time bear the character of an inward necessity, must be independent of experience.

—Kant : Critique of Pure Reason. p. 1

(ख) All our sense perceptions are limited by, and attached to the conceptions of time and space....Modern physics has come to the same conclusion in the relativity theory, that absolute space and absolute time have no existence.

—Charles P. Steinmetz; Quoted by Will Durant in 'The Story of Philosophy'. p 217

ग्रहण कर सकती है। इसलिए युक्ति-सिद्ध इस अर्थ को श्रुति बड़े आदर के साथ कहती है कि जो अनित्य-भूत दृश्य-दृष्टि का भी प्रकाशक, साक्षी तथा आत्मा का भी आत्मा है, उसको अनित्य दृष्टि से जानने का आयास मत करो।[१]

यहाँ एक शंका होती है कि यदि ब्रह्म अप्रमेय है तो गोस्वामी जी ने ब्रह्म को जो 'वेदान्त-वेद्य' कहा है,[२] वह वचन किस प्रकार संगत होगा। इसका समाधान यह है कि 'जो अद्वैत साक्षात्कार अवस्था है, उससे अव्यवहित पूर्वावस्था की प्राप्ति पर्यन्त प्रमाणों की प्रवृत्ति निर्बाध रूप से होती है। क्योंकि उसी अवस्था के अव्यवहित उत्तर काल में अद्वैतात्म साक्षात्कार होता है। आत्म-साक्षात्कार में ही त्रिपुटी का विलय होता है, उस अद्वैतात्म-साक्षात्कार से अव्यवहित पूर्वावस्था प्राप्त कराने में ही उपनिषदों की सार्थकता है। इसी प्रकार ब्रह्म में प्रमाणों की गति मानी जाती है। अद्वैतवादियों के मत में प्रमाणों के प्राणपद होने से ब्रह्म की सिद्धि होती है और द्वैतवादियों के मत में प्रमाण के विषय होने से भी ब्रह्म सिद्ध होता है।'

(ग) We can never arrive at the real nature of things from without. However, much we investigate, we can never reach anything but images and names, we are like a man who goes round a castle seeking in vain for an enterance, and sometimes sketching the facades.

—Schopenhauer ; The World as Will and Idea. p. 128

(घ) Consider the senses as false witness in regard to the truth, but as trustworthy counsclors in relation to the intersts of life.

—Malebranche : Quoted by R. Flackenberg, in 'History of Modern Philosophy', p. 145

१ विदक्षितपरिच्छिन्नपराग्रूपादिसंश्रयात्।
विपरीतमतो दृष्ट्या स्वतो बुद्धं न पश्यति॥
न्यायसिद्धमतो वक्ति दृष्टेर्द्रष्टारमात्मनः।
न पश्येत्प्रत्यगात्मानं प्रमाणं श्रुतिरादरात्॥

—नैष्कर्म्य सिद्धि, तृतीय अध्याय, ४९,५०

२ शान्तं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशान्तिप्रदम्।
ब्रह्मशम्भुफणीन्द्रसेव्यमनिशं वेदान्तवेद्यं विभुम्॥

—मानस, सुन्दर० मंगलाचरण, १

ब्रह्म इंद्रियों का अविषय है, ऐसी गोस्वामी जी की मान्यता है।

(क) अगुन अरूप अलख अज जोई।[१]

(ख) व्यापक ब्रह्म अलखु अबिनासी॥[२]

(ग) अबिगत अलख अनादि अनूपा॥[३]

इत्यादि उक्तियों का यही अभिप्राय है कि ब्रह्म चक्षु का अविषय है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कथित है कि आत्मा का स्वरूप इंद्रियों के समक्ष नहीं स्थिर रह सकता। उसे कोई चक्षु से नहीं ग्रहण कर सकता।[४] केन का वचन है—'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति',[५] 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो।'[६] यहाँ चक्षु सभी इंद्रियों के उपलक्षण के निमित्त है। कठोपनिषद्[७] में कहा गया है कि स्वयम्भू परमात्मा ने इंद्रियों को बहिर्मुख कर हिंसित कर दिया है। इसी से जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। अमरत्व की इच्छा से जिसने इंद्रियों का निरोध कर लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार कर सकता है :

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥[८]

भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं कि आत्मा तथा इन्द्रियों के मध्य मनोव्यापार का व्यवधान रहने से आत्मा का तो आभास मात्र भी इन्द्रियों का विषय नहीं

---

१ मानस, बाल० ११६
२ वही, बाल० ३४१
३ वही, अयोध्या० ९३
४ श्वेताश्वतर उप० ४।२०
५ केन उपनिषद् १।६
६ वही, १।३
७ कठोपनिषद् २।१।१
८ तुलनीय :

It were a vain endeavour
Though I should gaze for ever
On that green light which lingers in the west;
I may not hope from outward forms to win
The passion and the life whose fountains are within.

—Coleridge

होता ।[१]

ब्रह्म वागादि से अतीत और अनुपास्य है । केन की उक्ति है कि जो वाणी से प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित है, जो मन से मनन नहीं किया जाता, अपितु जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तू ब्रह्म जान, इस देशकालावच्छिन्न जिस वस्तु की तू उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है ।[२]

वृहदारण्यक के 'वन्दवाक्'[३], 'यो वाचमन्तरो यमयति',[४] 'न हि वक्तुर्वक्तें-विपरिलोपो विद्यते'[५], आदि वचनों का यही अर्थ है कि ब्रह्म के द्वारा ही जो वाणी विवक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होती है, वह भला ब्रह्म को क्या प्रकाशित करेगी ।

ब्रह्म को वाणी और मन का अविषय निरूपित करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

(क) मन समेत जेहि जान न बानी ।[६]

(ख) राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर
अविगत अकथ अपार नेति नेति निगम कह ।।[७]

(ग) अगुन अदभ्र गिरा गोतीता ।[८]

(घ) जे ब्रह्म अजमद्वैत अनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं ।[९]

(ङ) राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी ।[१०]

(च) ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार ।[११]

(छ) सुख संदोह मोह पर ज्ञान गिरा गोतीत ।[१२]

---

१ ईश भाष्य, ४
२ केन उपनिषद् १।४-५
३ बृहदारण्यक उप० १।४।७
४ वही, ३।७।१७
५ वही, ४।३।२६
६ मानस, बाल० ३४१
७ वही, अयोध्या० १२६
८ वही, उत्तर० ७२
९ वही, उत्तर० १३
१० वही, बाल० १२१
११ वही, उत्तर० २५
१२ वही, बाल० १९९

(ज) मन क्रम वचन अगोचर जोई ।[१]

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि जिस समय वाणी से उच्चारण किया हुआ शब्द अपने वाच्च को प्रकाशित करता है, उस समय ही अपने वाच्य तक वाणी पहुँचती हैं । किन्तु ब्रह्म तो शब्द और उसका व्यवहार करने वाले इन्द्रिय का आत्मा है । अतः वाणी वहाँ उसी प्रकार नहीं पहुँच सकती, जैसे कि अग्नि दाहक और प्रकाशक होने पर भी अपने को न जलाता है और न प्रकाशित ही करता है ।[२] तैत्तिरीय भाष्य में आचार्य कहते हैं कि जहाँ कहीं भी विज्ञान है, वहाँ वाणी की भी प्रवृत्ति होती है । अतः अभिधाम और प्रत्यय रूपवाणी और मन की सर्वत्र साथ ही गति होती है ।[३]

केन भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि मन अन्य पदार्थों का संकल्प और निश्चय करने वाला होता हुआ भी अपना संकल्प या निश्चय नहीं करता, क्योंकि ब्रह्म उसका भी आत्मा है ।[४] आत्मा सब विषयों के प्रति प्रत्यक् रूप से (आन्तरिक) ही है । अतः उसमें मन प्रवृत्त नहीं हो सकता ।[५]

ब्रह्म बुद्धि के विकल्पों और तर्क की ऊहा के भी परे है ।[६]

गोस्वामी जी कहते हैं—

'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी'[७]

---

१ वही, बाल० २०३

२ केन भाष्य १।३

३ तैत्तिरीय भाष्य २।६

४ केन भाष्य, १।३

५ वही, १।५

६ Intellect being framed simply by and for converse with phenomena, involves us in nonsense when we try to use it for any thing beyond phenomena.

—Herbert Spencer : First Principles, p. 107-108

Logic and sermons never convince;
The damp of the night drives deeper into my soul....
Now I re-examine philosophies and religions.

—Whitman; Leaves of Grass, p. 61.

७ मानस, बाल० १२१

शङ्कराचार्य का मत है कि तार्किकों का अन्तःकरण तर्क से दूषित हो जाता है अतः वे अनागमज्ञ और दयनीय हैं।[१] बृहदारण्यक भाष्य में उन्होंने तार्किकों को पुच्छ-शृङ्ग-हीन बैलों का पद दिया है।[२] केन वाक्यभाष्य में कथित है कि अति तर्क का परिणाम अनवस्था और भ्रान्ति है।[३] कठ भाष्य में आचार्य कहते हैं कि कोई पुरुष तर्क द्वारा उस अणु परिणाम आत्मा को स्थापित भी करे तो दुसरा उससे भी अणु और तीसरा उससे भी अणु स्थापित कर देगा क्योंकि तर्क की स्थिति कहीं भी नहीं है। अतः निष्कर्ष यह कि तर्क बुद्धि की ऊहामात्र है।[४] आचार्य कहते हैं कि अनेक तार्किकों के कुतर्कों से विचलित अन्तःकरण तथा विकृत बुद्धि वाले लोगों के हृदय में प्रमाणोपपन्न तथा अनेकशः उपदिष्ट आत्मैकत्व कभी स्थिर नहीं होता।[५] इसीलिए तार्किक ब्रह्म-दुर्ग में कभी प्रवेश नहीं कर सकते।[६]

ब्रह्म अनुमान का भी अविषय है। गोस्वामी जी कहते हैं :

मन समेत जेहि जान न बानी।
तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥[७]

'नैष्कर्म्य सिद्धि' में कथित है कि आत्मा अनुमान का विषय नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण जड़वस्तु को विषय करता है। वह स्वयं-प्रकाश आत्मा को ग्रहण नहीं कर सकता। अनुमान करने के पूर्व, अनुमान से जिसकी सिद्धि करनी है, उसके साथ किसी वस्तु का व्याप्ति-ज्ञान आवश्यक है, वह प्रत्यक्ष से होता है। आत्मा जब प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, तब व्याप्ति-ज्ञान किस प्रकार होगा? व्याप्ति-ज्ञान न होने से अनुमान भी नहीं बन सकता।[८]

विवरण प्रमेय संग्रहकार कहते हैं कि ब्रह्म को घटादि के तुल्य इंद्रियों का विषय मानने से अनुमान करना ही निष्प्रयोजन होगा और इंद्रियो का अविषय मानने से तो विशेष-व्याप्ति का ज्ञान ही नहीं बन सकता।[९]

१ कठ भाष्य १।२।९
२ बृहदारण्यक भाष्य, २।१।२०
३ केन वाक्य-भाष्य १।३
४ कठ भाष्य १।२।८
५ वही, २।२।९
६ बृहदारण्यक भाष्य २।१।२०
७ मानस, बाल०, ३४१
८ नैष्कर्म्य सिद्धि, तृतीय अध्याय
९ विवरण प्रमेय संग्रह, सूत्र २, वर्णक १

ब्रह्म तत्त्व का वादियों द्वारा अस्ति-नास्ति, कर्त्ता-अकर्त्ता एवं शुद्ध-अशुद्ध इस प्रकार अनेकविध चिन्तन किया जाता है। परन्तु निरूपण विशेष का ही होता है और विशेष विकार ही होता है। परन्तु ब्रह्म निर्विकार अतः अनिरुक्त है।

यह ब्रह्म तत्व न 'ईदृश' है न 'तादृश' और न परोक्ष ही। वह तो सत् अर्थात् अपरोक्ष है। आत्मा किसी भी इंद्रिय का विषय नहीं है, इसलिए उसे 'ईदृश' नहीं कह सकते। जो परोक्ष होता है, उसे 'तादृश' कहते हैं। आत्मा तो अहं प्रतीति से नित्य अपरोक्ष है, इसलिए उसे 'तादृश' भी नहीं कह सकते।

इसी नाते गोस्वामी जी 'नेति नेति कहकर ब्रह्म के स्वरूप का परिचय देते हैं :

(क) ध्यान न पावहिं जाहि मुनि नेति नेति कह वेद।[१]

(ख) कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहिं।[२]

(ग) नेति नेति जेहि वेद निरूपा।[३]

(घ) महिमा निगम नेति कहि कहइ।[४]

(ङ) कहि नित नेति निरूपहिं वेदा।[५]

ब्रह्म-तत्व में अस्ति-नास्ति रूप गति नहीं है, क्योंकि ब्रह्म संपूर्ण विकल्पों की गति से रहित है।[६] इसीलिए उपनिषद् सदा 'नेति नेति' कहकर उसका परिचय देती हैं—'स एष नेति नेति आत्मा'। ऐतरेय भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं

---

१ मानस, बाल० १४४

२ वही, बाल० ५१

३ वही, बाल० १४४

४ वही, बाल० ३४१.

५ वही, अयोध्या० ९३

६ God, because of his excellence may rightly be called nothing.

—Scoutus Erigena.

We say what He is not, we cannot say what He is.

× × ×

Since the nature of Hypostasis of the One is engendrer of the All; it can itself be none of the things in all.....

.....All these categories hold only in the realm of ex-

ऐतरेय भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि 'अस्ति'-'नास्ति' आदि जितने भी वाणी और मन के भेद जहाँ एक हो जाते हैं, उसे विषय करने वाली नित्य निर्विशेष दृष्टि से सम्पूर्ण वाक-प्रतीतियों के अविषय स्वरूप में जो 'अस्ति'-'नास्ति', एक-अनेक, सगुण-निर्गुण, जानता है-नहीं जानता, सक्रिय-निष्क्रिय, सफल-निष्फल, सजीव-निर्जीव, सुख-दुख, भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य अथवा परअहं एवं अन्य की कल्पना करना चाहता है, वह निश्चय ही आकाश को भी चर्म के समान लपेटना चाहता है और अपने पैरों से उस पर सीढ़ियों के समान आरूढ़ होने को उद्यत है। वह मानों जल में मछलियों और आकाश में पक्षियों के चरण-चिह्न देखने को उत्सुक है।[१]

यहाँ यह स्मरणीय है कि 'नेति नेति' तत्व की अनिर्वचनीयता का बोध कराती है, उसकी शून्यता का नहीं। गोस्वामी जी कहते हैं !

नेति नेति जेहि वेद निरूपा।
निजानंद निरुपाधि अनूपा॥[२]

'नेति नेति' पद से कोई तत्व को अभावात्मक न समझ ले इसलिए उसे निजानन्द कहा गया। यह निजानन्द स्वरूप परमतत्व तो 'सदा एक रस अहइ।'

शारीरक भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि ब्रह्म वाणी और मन का अविषय है, यह कथन ब्रह्म के प्रतिषेध के अभिप्राय से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से वेदान्तों में बड़े प्रयत्न से ब्रह्म का प्रतिपादन करके फिर उसी का अभाव नहीं कहा जा सकता।[३]

तैत्तिरीय भाष्य[४] में शंकर लिखते हैं कि आत्मतत्त्व हमारे सम्पूर्ण अनुभव में ओत-प्रोत है। अनुभव का अर्थ है अर्थ या विषय का प्रकाश और यह प्रकाश

---

istence and constitute the multiplicity characteristic of that lower realm.

—Plotinus : Enneads

१ ऐतरेय भाष्य, अध्याय २, खण्ड १, प्रस्तावना।

२ मानस, बाल० १४४

३ शारीरक भाष्य ३।२।२२

४ तैत्तिरीय भाष्य २।१

आत्म-ज्योति के बिना सम्भव नहीं है। जिसके बिना अनुभव असम्भव है, उसका अनुभव द्वारा बाध कैसे हो सकता है? सारांश यह कि चिद्रूप आत्मा की अनुपस्थिति या अभाव कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता।

'विवरण प्रमेय संग्रह' में सद्रूप आत्मा को असद्रूप समझनेवाले को तस्कर और आत्मघाती कहा गया है।[1] कठोपनिषद् में तो स्पष्ट कथित है कि आत्मा 'अस्ति' इस प्रकार ही उपलब्ध किया जाना चाहिए तथा उसे तत्त्व-भाव से भी जानना चाहिए, इन दोनों प्रकार की उपलब्धियों में से जिसे 'अस्ति' इस प्रकार की उपलब्धि हो गई है, तत्त्वभाव उसके अभिमुख हो जाता है :

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयेः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥[2]

निर्गुण-सगुण-विचार

'यद्यपि उपादान कारण से भिन्न कार्य की पृथक् सत्ता नहीं होती, तथापि कारण की अपेक्षा कार्य में अनिर्वचनीय विलक्षणता होती है। मृत्तिका घट-रूप में व्यक्त हो कर सविशेष होती है। घट के मृत्तिका में लीन होने पर घट की अपेक्षा वह निर्विशेष और मृत्तिका की अपेक्षा घट सविशेष होता है। जल निर्गन्ध है, पर उसका कार्य पृथिवी गन्धवती है। नीरस तेज से रसवान् जल, एवं नीरूप वायु से रूप युक्त तेज की उत्पत्ति होती है। कारण की अपेक्षा कार्य सविशेष एवं कार्य की अपेक्षा कारण निर्विशेष होता है।'

इसीलिए जो सबका कारण है, वह निर्विशेष और निर्गुण ही है। इसीलिए गोस्वामी जी मूल द्रव्य के सम्बन्ध में कहते हैं :

---

१ विवरण प्रमेय संग्रह, सूत्र १ वर्णक ४
२ कठोपनिषद् २।३।१३

(क) अगुन अखंड अनंत अनादी।
जेहि चिन्तहिं परमारथवादी॥
नेति नेति जेहि वेद निरूपा।
चिदानन्दु निरुपाधि अनूपा॥[१]

(ख) व्यापक अकल अनीह अज,
निर्गुन नाम न रूप।[२]

तर्क-शास्त्र के प्रतिवर्त्तन नियम से यह निष्कर्ष निकलता है कि उद्देश्य के सम्बन्ध में किसी गुण का विधान करना उस उद्देश्य को सीमित कर देना है। यूरोप के एक बड़े दार्शनिक स्पिनोजा भी इस बात को स्वीकार करते हैं। उनका सिद्धान्त है—प्रत्येक विशेषण का अर्थ है निषेध। अतएव उनका कथन है कि मूल द्रव्य अविशेष और अनिर्वचनीय है। उपनिषदों का भी यही सिद्धान्त है। गुणों के अत्यन्त अभाव के कारण ब्रह्म का भावात्मक वर्णन हो नहीं सकता। उसे हम निषेधमुखेन ही जान सकते हैं, इसीलिए उपनिषद् सदा 'नेति नेति' कह कर उसका परिचय देते हैं—'स एष नेति नेति आत्मा।'[३]

इसीलिए परब्रह्म के वर्णन में उपनिषदों में 'न' अ व्यय का बाहुल्य है। ईशोपनिषद् ने ब्रह्म को अकाय और अव्रण[४] कहा। कठ ने कहा कि वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अनादि और अनन्त है।[५] मुण्डक ने उसे अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अव्यय और अपाणिपाद बतलाया[६]। बृहदारण्यक के अनुसार वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व तथा अदीर्घ है।[७]

राम जिस प्रकार जगत् की समस्त चेतना के मूल स्रोत होने के नाते निर्विशेष चित्स्वरूप हैं, उसी प्रकार माया के स्वामी होने के नाते गुणधाम सगुण ब्रह्म भी :

---

१ मानस, बाल० १४४
२ वही, बाल० २०५
३ बृहदारण्यक उप० ४।४।२२
४ ईशोपनिषद्, ८
५ कठोपनिषद् ३।१५
६ मुण्डकोपनिषद् १।१।४; ३।१।२
७ बृहदारण्यक उप० ३।६।६

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ग्यान गुन धामू॥[१]

जनक इसीलिए उन्हें,

'चिदानंदु निरगुन गुनरासी'[२]

कहते हैं। सुतीक्ष्ण भी उन्हें,

'निर्गुण सगुण विषम समरूप'[३]

कहते हैं। जटायु ने भी स्तवन करते हुए कहा :

'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही।'[४]

राम की स्तुति करते हुए वेद भी कहते हैं :

'जय सगुन निरगुन रूप अनूप भूप सिरोमने।'[५]

वस्तुतः निर्गुण और सगुण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है :

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥

× × ×

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे।
जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥[६]

अपनी अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्ति के योग से निराकार भगवान् उसी तरह साकार हो जाते हैं, जैसे जल हिम रूप में अथवा अव्यक्त अग्नि दाहक प्रकाशक रूप में व्यक्त होता है :

एक दारु गत देखिअ एकू।
पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू॥[७]

---

१ मानस, बाल० ११७
२ वही, बाल० ३४१
३ वही, अरण्य० ११
४ वही, अरण्य० ३२
५ वही, उत्तर० १३
६ वही, बाल० ११६
७ वही, बाल० २३

ठीक ऐसा ही उल्लेख कठवल्युपनिषद् में भी मिलता है :

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव ।[१]

उपनिषदों में ब्रह्म के निर्विशेष और सविशेष उभय रूपों का विशद वर्णन प्राप्त है । बृहदारण्यक[२] में कहा गया है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त, मर्त्य और अमर्त्य, सत्य और असत्य । मैत्री[३] ने ब्रह्म के शरीरी और अशरीरी, काल और अकाल, स्वर और अस्वर दो रूपों की कल्पना की । मुण्डक,[४] प्रश्न[५] तथा श्वेताश्वतर[६] में भी ब्रह्म के उभय रूपों का उल्लेख है ।[७] पर स्मरण रखना होगा कि सगुण और निर्गुण, सोपाधि तथा निरुपाधि स्वरूप की व्यञ्जना करने वाले पद एक ही ब्रह्मतत्त्व के व्याख्यान में उपपन्न हैं। उपर्युक्त कथन इस तथ्य से और भी पुष्ट हो जाता है कि उपनिषदों में कहीं-कहीं एक ही मंत्र में सविशेष और निर्विशेष उभयलिंग शब्दों का युगपत् प्रयोग मिलता है । मुण्डक का मंत्र है—'यत् तद् अद्रेश्यमग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुःस्रोतम्, तद् अपाणिपादम्, नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ।'[८]

निर्गुण-निरुपाधि ब्रह्म अपनी माया शक्ति के प्रभाव से सगुण-सोपाधि रूप में उपलब्ध होता है । गोस्वामी जी कहते हैं कि राम अपनी माया द्वारा ही मनुष्य शरीर ग्रहण करते हैं :

---

१ कठोपनिषद् २।५।९

२ बृहदारण्यक उप० २।३।१

३ मैत्री उप० ६।१५; ६।२२

४ मुण्डक उप० २।१।२

५ प्रश्न उप० ५।२

६ श्वेताश्वतर उप० १।१३

७ गीता तथा भागवत में भी एक साथ निर्गुण-सगुण-भावात्मक वर्णन सुलभ है :

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
—गीता, १३।१४

त्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् ।
नान्यत् त्वदस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम् ॥
—भागवत, १।१।६

८ मुण्डक उप० १।१।६

'माया मानुषरूपिणी रघुवरी सद्धर्मवर्मीहितौ ।[१]

इसी माया शक्ति द्वारा राम निर्गुण से सगुण हो जाते हैं। इस सगुण ब्रह्म का रहस्य और चरित्र साधारणतः अविज्ञात ही रहता है। बुद्धिहीन लोग उसे देखकर मोह-मुग्ध हो जाते हैं। पर जो राम स्वतः विज्ञानः-स्वरूप हैं, वे मोह-मुग्ध नहीं हो सकते :

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा ।
तेहि किमि कहिअ विमोह प्रसंगा ॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा ।
नहिं तहं मोह निसा लवलेसा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना ।
नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥[२]

राम-विषयक यह मोहमूलक धारणा हमारे अज्ञान का ही प्रतिफल है :

जथा गगन घन पटल निहारी ।
झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥
उमा राम बिषइक अस मोहा ॥
नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥[३]

ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है, पर वह घटादि के समान परप्रकाश नहीं है। वह स्वप्रकाश है। निरवयव और अपरिणामी होने के कारण उसका स्वप्रकाशत्व कदाचित्क भी नहीं है। वह कूटस्थ है। अतः स्वयंज्योतिरूप सूर्य का आच्छादन जैसे मेघ-खण्ड नहीं कर सकते, वैसे ही अज्ञान भी कूटस्थ नित्य प्रकाशमान ब्रह्म का आच्छादन नहीं कर सकता। आकाश में जैसे मलिनता आदि कल्पित हैं, वैसे ही अविद्या भी ब्रह्म में कल्पित है। यह कल्पित अविद्या ब्रह्म की पारमार्थिक असंगता को बाधित नहीं कर सकती।

'अध्यात्म रामायण' में कथित है कि राम अपनी अवतारी सृष्टि से परे हैं। जो राम स्वतः विज्ञान स्वरूप हैं, वे मोह-मुग्ध नहीं होते। राम विषयक मोह की यह धारणा हमारे ही अज्ञान का परिणाम है। शंकर उमा से कहते हैं कि अज्ञ-जन अपने गले में पड़े हुए कण्ठे को न जानने के समान, अपने ही हृदय में स्थित परमात्मा राम को नहीं जानते। इसीलिए उनमें अज्ञानादि का आरोप

१ मानस, किष्किन्धा० १
२ वही, बाल० ११६
३ वही, बाल० ११७

करते हैं। वास्तव में जिस प्रकार सूर्य में कभी अन्धकार नहीं रहता उसी प्रकार प्रकृत्यादि से अतीत, विशुद्ध विज्ञानघन ज्योति-स्वरूप परमात्मा राम में भी अविद्या नहीं रह सकती। जिस प्रकार चक्कर लगाते समय मनुष्य के नेत्रों के घूमने से गृह आदि भी घूमते हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार लोग अपने देह और इन्द्रिय रूप कर्त्ता के किए हुए कर्मों का आत्मा में आरोप करके मोहित हो जाते हैं। प्रकाशत्व में अव्यभिचार होने से जिस प्रकार सूर्य में रात-दिन का भेद नहीं होता—वह सर्वदा एक समान प्रकाशमान रहता है, उसी प्रकार शुद्ध चेतन घन भगवान् राम में ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रह सकते हैं। भगवान् राम में अज्ञान का लेश भी नहीं है। वे माया के अधिष्ठान हैं। इसीलिए माया उन्हें मोहित नहीं कर सकती।[१]

सीता (राम की योगमाया) हनुमान से कहती हैं[२] :

जन्म लेने के बाद विश्वामित्र की सहायता करना, उनके यज्ञ की रक्षा करना, अहल्या को शाप-मुक्त करना, महादेव के धनुष को तोड़ना, तत्पश्चात् मेरा पाणिग्रहण करना, परशुराम का गर्व खण्डन करना तथा बारह वर्षों तक मेरे साथ अयोध्यापुरी में रहना, फिर दण्डकारण्य में जाना, विराध का वध करना, मायामृगरूप मारीच का मारा जाना, मायामयी सीता का हरा जाना, तदनन्तर जटायु और कबन्ध का मुक्त होना, शबरी द्वारा भगवान् का पूजित होना और सुग्रीव से मैत्री होना, फिर बालि का वध करना, सीता की खोज करना, समुद्र पर सेतु बँधवाना और लंकापुरी का घेर लेना तथा पुत्रों के सहित दुरात्मा रावण को युद्ध में मारना एवं विभीषण को लंका का राज्य देकर पुष्पक विमान द्वारा मेरे साथ अयोध्या लौट आना, फिर श्रीराम का राज्य-पद पर अभिषिक्त होना—इत्यादि समस्त कर्म यद्यपि मेरे ही किए हुए हैं, तो भी अज्ञानी लोग उन्हें इन निर्विकार सर्वात्मा भगवान् राम में आरोपित करते हैं (आरोपयन्ति रामोऽस्मिन्निर्विकारो अखिलात्मनि), परन्तु,

रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच—
त्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किंचित्।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो
मायागुणानुगतो हि तथा विभाति॥[३]

---

१ अध्यात्म रामायण १।१।२१-२४

२ वही, १।१।३७-४२

३ वही, १।१।४३

गोस्वामी जी कहते हैं कि राम यह सब सगुण लीला एक नट की भावना ले कर करते हैं और वे अपनी सृष्टि से अलिप्त और असंपृक्त ही रहते हैं :

जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोई।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपु न होइ न सोइ॥

अस रघुपति लीला उरगारी।
दनुज विमोहनि सब सुखकारी॥[१]

'लोकत्तु लीला कैवल्यम्' सूत्र का भाष्य करते हुए भगवान् शंकराचार्य शारीरक भाष्य में कहते हैं कि जैसे क्रीड़ा-क्षेत्र में राजा की प्रवृत्तियाँ किसी दूसरे प्रयोजन की अभिलाषा न करके केवल लीलारूप ही होती हैं और जैसे उच्छ्वास, प्रश्वास आदि किसी बाह्य प्रयोजन की अभिसन्धि के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार किसी अन्य प्रयोजन की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही ईश्वर की भी केवल लीला-रूप प्रवृत्ति होगी, क्योंकि युक्ति या श्रुति से ईश्वर के अन्य प्रयोजन का निरूपण करना सम्भव नहीं है। यद्यपि जगत्बिम्ब की रचना हम लोगों को गुरुतर आयास-साध्य प्रतीत होती है, तो भी परमेश्वर की यह लीला है, क्योंकि उसकी शक्ति अपरिमित है। यद्यपि लोक में लीलाओं में भी किसी सूक्ष्म प्रयोजन की उत्प्रेक्षा की की जा सकती है, किन्तु परमात्मा के विषय में किसी भी प्रयोजन की उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि परमेश्वर आप्तकाम है।

गोस्वामी जी कहते हैं कि निर्गुण रूप का समझना तो सुकर है, पर सगुण स्वरूप का रहस्य कोई नहीं जान सकता :

'निरगुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानहिं कोय' [२]

ऐसा क्यों ? तत्वतः इस सगुण रूप की यथार्थ व्याख्या में कोई भी दार्शनिक प्रणाली सफल नहीं हो सकी है[३] और न हो सकती है। डा० बलदेव प्रसाद मिश्र कहते हैं कि 'जो ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है, उसे सगुण मानना तथा अवतारी मानना, भक्त की भावना की बात है। सगुणता, व्यक्तित्वमयी साकारता की सिद्धि कोरी तर्क-प्रणाली पर नहीं की जा सकती। इसके लिए तो श्रद्धा का सहारा लेना ही पड़ता है।....शंकराचार्य से बढ़कर शायद ही कोई दूसरा विचारक अथवा तार्किक हुआ है। वे भी :

---

१ मानस उत्तर० ७२

२ वही, उत्तर० ७३

३ The old question, why God made the world, has never

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशीव भाति यदुनाथः ।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः ॥

कह कर हृदय की श्रद्धा ही को उकसाने की चेष्टा कर रहे हैं, न कि तर्क को। इस सम्बन्ध में तर्क का काम केवल इतना ही है कि वह निराकार, साकार और नराकार आराध्य का इस प्रकार सामंजस्य कर दे कि श्रद्धा और भी पुष्ट होकर परम विश्वास का रूप धारण कर ले।'[१]

इस सन्दर्भ में स्वामी करपात्री जी अपनी पुस्तक 'भगवत्त्व' में जो कहते हैं, वह बहुत तात्त्विक न होने पर भी ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं कि इतने पर भी लोगों के प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकते हैं, परन्तु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालु की लीला से निराकार जीव साकार होता है, क्योंकि सर्वमत से जीव निराकार तथा निरवयव है और स्पर्शविहीन आकाश, स्पर्श युक्त वायु के रूप में तथा रूप रहित वायु रूपवान् तेज के रूप में, और रस-गन्ध विहीन तेज जल के रूप में, और रस-युक्त जल गंधवती पृथिवी के रूप में अवतीर्ण होता है तब क्या वे निराकार होकर भी साकार रूप

---

been answered, nor will be. We know not why the world should be; we only know that there it is.

—Green : Prolegomena to Ethics, Sec. 100

The immanence of the absolute in finite centres and of finite centres in the absolute, I have always set down as inexplicable.....to comprehend it, is beyond all intelligence.

—Bradley : Mind, No. 74, p. 154.

God has no imperfections, no unfulfilled desires. The attribution of any motive (prayojana) to God conflicts with his all sufficiency. If the world issued for some purpose or expressed some desire or fulfilled some want, then it would betray a sense of need and incompleteness in the Supreme. If he created with no definite aim, then his acts would be no better than a child's.

—S. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II pp. 350-1.

१ डा० बलदेव प्रसाद मिश्र: 'तुलसी दर्शन' : पृ० १५८-५९

में प्रकट नहीं हो सकते ?[१]

गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवान् के अवतार के सम्बन्ध में इदम् और इत्थम् रूप से कुछ भी कह सकना शक्य नहीं है :

हरि अवतार हेतु जेहि होई।
इदमित्थं कहि जाई न सोई।[२]

यों, प्राचीनों ने अवतार के हेतुओं का निदर्शन किया है। तुलसीदास का किसी से विरोध नहीं है। वे शिव के मुख से कहलाते हैं :

तदपि संत मुनि बेद पुराना।
जस कछु कहहिं स्वमति अनुमाना॥
तस मैं सुमुखि सुनावऊँ तोही।
समुझि परइ जस कारन मोही॥[३]

गीता में भगवान् ने कहा कि जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने आपको मनुष्य रूप में सृष्ट करता हूँ :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थान धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥[४]

गोस्वामी जी उपर्युक्त श्लोक को अनूदित करते हुए कहते हैं :

जब जब होई धरम कै हानी।
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥

× × ×

तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥[५]

पर परमानन्द भगवान् श्री राम के इस लोक में अवतीर्ण होने का प्रधान कारण उपासकों और भक्तों का अनन्य प्रेम और अनपायिनी भक्ति ही है :

---

१ भगवतत्व पृ० ६७
२ मानस, बाल० १२१
३ वही, बाल० १२१
४ भगवद्गीता ४।७
५ मानस, बाल० १२१

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप ॥[१]

यहाँ तुलसी ने सस्पष्टतः भागवत का अनुसरण किया है :

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा नामरूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति ॥[२]

इस राम के जन्म-कर्म अगणित हैं :

राम नाम गुन चरित सुहाये।
जनम करम अगनित श्रुति गाये ॥
जथा अनंत राम भगवाना।
तथा कथा कीरति गुन गाना ॥[३]

भागवत में स्वयं भगवान् कहते हैं :

'जन्म कर्माभिधानानि सन्ति मे अंगः सहस्रशः।
न शक्यन्तेनु संख्यातु मनन्त त्वान्ययापि हि ॥
क्वचिद्रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः।
गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कहिंचित् ॥[४]

गोस्वामी जी कहते हैं :

राम जनम के हेतु अनेका।
परम विचित्र एक ते एका ॥

गोस्वामी जी का यह 'विचित्रवाद' बादरायण के उस सिद्धान्त से पर्याप्त संगति रखता है, जिसका निदर्शन उन्होंने 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' सूत्र में किया है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है राम अपनी माया द्वारा ही अवतार ग्रहण करते हैं—

माया मानुष रूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौ हितौ।[५]

---

१ वही, बाल० २०५
२ भागवत ८।३।८
३ मानस, बाल० ११४
४ भागवत, १०।५१।३६
५ मानस, किष्किन्धा० १

यह माया राम के अधीन है, राम की चेरी है, इसीलिए राम,

'मायाधीस ग्यान गुन धामू'[१]

तुलनीय :

(क) स्वमायया कृतस्तमिदं हि सृष्ट्वा नभोवदन्तर्बहिरास्थितो यः ।
सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ़ आत्मा स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे ॥
—अध्यात्म रामायण बाल० १।१८

(ख) मायया गुणमय्या त्वं सृजस्यवसि लुम्पसि ।
जगत्तेन न ते लेप आनन्दानुभवात्मनः ॥
—वही, बाल० २।१५

(ग) तथापि देवकार्यार्थं गुह्यं नोद्घाटयाम्यहम् ॥
यथा त्वं मायया सर्वं करोषि रघुनन्दन ॥
—वही, अयोध्या० २।२५

(घ) सृष्टिलीलां यदा कर्तुमीहसे रघुनन्दन ।
अंगीकरोषि मायां त्वं तदा वै गुणवानिव ॥
—वही, अरण्य० ३।३१

(ङ) त्वमादिमध्यान्तविहीन एकः सृजस्यवस्यत्सि च लोकजातम् ।
स्वमायया तेन न लिप्यसे त्वं यत्स्वे सुखे जस्रसोऽनवद्यः ॥
—वही, युद्ध० १५।५२

(च) सोऽयं परमात्मा पुरुषः पुराण एकः स्वयंज्योतिरन्त आद्यः ।
मायातनुं लोक विमोहनीयां धत्ते परानुग्रह एष रामः ॥
—वही, बाल० ५।४९

(छ) निर्गुणस्त्वं निराकारो यदा मायागुणान्प्रभो ।
लीलयांगीकरोषि त्वं तदा वैराजनामवान् ॥
—वही, युद्ध० ३।७४

१ मानस, बाल० ११७

कहे जाते हैं। माया राम के अधीन है, इसीलिए वह राम से भय मानती है :

जीव चराचर बस कै राखे।
सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥[१]

और भी,

देखी माया सब विधि गाढ़ी।
अति- सभीत जोरे कर ठाढ़ी।[२]

'अध्यात्म रामायण' में भी माया का रामाश्रयत्व उल्लिखित है। नारद राम से कहते हैं :

'त्वदाश्रया सदा भाति माया या त्रिगुणात्मिका।[३]

अगस्त्य राम से कहते हैं कि आप ही में आश्रित तथा आप ही को विषय करने वाली माया आपकी ही शक्ति कही जाती है :

सृष्टेः प्रागेक एवासीन्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥[४]

गुरु वसिष्ठ राम से कहते हैं कि यदि आप गुरु-ऋण से उऋण होना चाहते हैं, तो मुझे यही दीजिए कि आपके अधीन रहने वाली आपकी सर्व-लोक-विमोहिनी माया मुझे मोहित न करे :

त्वदाधीना महामाया सर्वलोकैकमोहिनी।
मां यथा मोहयेन्नैव तथा कुरु रघूद्वह ॥
गुरु निष्कृतिकामस्त्वं यदि देह्यतदेव मे।[५]

कैकेयी अपना पश्चात्ताप प्रकट करते समय राम से कहती है :

त्वदधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी।
त्वयैव प्रेरितारहं च देवकार्यं करिष्यता ॥[६]

पुनः कैकेयी राम से कहती है कि सम्पूर्ण संसार को मोहित करने वाली माया

---

१ वही, बाल० २०२
२ वही, बाल० २००
३ अध्यात्म रामायण, अयोध्या० १।११
४ वही, अरण्य० ३।२०
५ वही, अयोध्या० २।३१-३२
६ वही, अयोध्या० ९।५९

भी आप से डरा करती है :

राम त्वमेव भुवनानि विधाय तेषां।
संरक्षणाय सुरमानुषतिर्यगादीन् ॥
देहान्बिभर्षि न च देह गुणैर्विलिप्त।
स्वत्तो बिभेत्यखिलमोहकरी च माया।[१]

माया आत्माश्रित ही है, अनात्माश्रित नहीं; ऐसा अद्वैतवादियों का मत है। विश्वरूपाचार्य कहते हैं :

प्रसिद्धत्वादविद्यायाः साऽपह्नोतुं न शक्यते।
अनात्मनो न सा युक्ता विना त्वात्मा तया नहि ॥

अर्थात् अविद्या प्रसिद्ध है, (स्वयंप्रकाश आत्मा के ब्रह्मस्वरूप का भान न होने से) इससे उसका अपन्हव नहीं कर सकते। वह अविद्या अनात्माश्रित है (अर्थात् उसका आश्रय अनात्मा है) यह कहना युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि उस अविद्या के बिना अनात्मा की आत्मा-सत्ता ही नहीं है।

संक्षेप शारीरककार भी कहते हैं :

"आश्रयत्वविषयत्वभंगिनि निर्विभागचरितेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।

'चित्सुखी' में इस शंका का उपस्थापन करते हुए कि सर्वज्ञ होने के कारण ब्रह्म अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, समाधान रूप में कहा गया कि ऐसा कथन युक्त नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञत्व दो प्रकार का होता है—एक स्वरूपतः और दूसरा प्रमाणों के द्वारा। वह दोनों प्रकार का सर्वज्ञत्व विभु आत्मा में तब तक नहीं बन सकता, जब तक उसमें अविद्या का सम्बन्ध न हो। स्वरूपभूत बुद्धि के द्वारा यदि ब्रह्म में सर्वज्ञत्व मानते हैं, तब असंग ब्रह्म का अविद्या के बिना सर्व अर्थों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः सर्वज्ञत्व की उपपत्ति के लिए ब्रह्म में अविद्या माननी ही पड़ेगी। प्रमाणों के द्वारा सर्वज्ञत्व में भी प्रमातृत्व तथा प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध की अनाद्य-विद्या सम्बन्ध के बिना सिद्धि नहीं हो सकती, अतः सर्वज्ञत्व, अविद्यावत्ता का आक्षेपक है, न कि निवारक, फिर ब्रह्म में अविद्या का प्रतिषेध कैसे होगा ? 'प्रकाशरूप ब्रह्म अप्रकाशरूप अविद्या का आश्रय कैसे होगा ? परस्पर विरोधी अन्धकार और प्रकाश का आधाराधेयभाव नहीं बन सकता,—यह सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि यहाँ 'अप्रकाश'

---

१ वही अयोध्या० ६।६२

शब्द से क्या प्रकाशाभाव विवक्षित है ? या प्रकाश से भिन्न ? या प्रकाश-विरोधी ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं; क्योंकि भावाभाव से विलक्षण होने के कारण अविद्या अभावरूप नहीं बन सकती। द्वितीय पक्ष में दृष्टान्त का अभाव है; क्योंकि चित्प्रकाश से अन्य का चित्प्रकाश आश्रय नहीं होता। इसका कारण यह कि चित्प्रकाशान्य समस्त जड़ का चित्प्रकाश ही आश्रय है। चिन्मात्र के आश्रय का उसके साथ विरोध सम्भव न होने से तृतीय पक्ष भी संगत नहीं। 'यदि अविद्या की आश्रयता विरुद्ध नहीं, तब तो उसकी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए' यह शंका नहीं कर सकते; क्योंकि वेदान्त-वाक्य-जन्य ब्रह्माकार विज्ञान से या उस विज्ञान से अवच्छिन्न चित्प्रकाश से उसकी निवृत्ति बन सकती है। विज्ञान का कोई और निवर्त्तक न होने से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, यदि और निवर्त्तक माना जाय, तब अनवस्था होगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि कारण की निवृत्ति से ही विज्ञान की निवृत्ति भी हो जाती है। 'कार्य (ज्ञान) से कारण (अविद्या) की निवृत्ति नहीं हो सकती'—यह भी नहीं कह सकते; क्योंकि संस्कार से उसके जनक ज्ञान का और स्मरण से उसके जनक संस्कार का और अन्तिम शब्द से उसके जनक पूर्व शब्द का नाश शास्त्रकार मानते हैं, लोक में भी अरणि-जन्य अग्नि से अरणि का एवं केले में फलोत्पत्ति से केले का नाश देखा जाता है।

मानस के अनुसार सीता वह 'आदि-शक्ति' है, जिससे विश्व का उद्भव होता है। मनु-सतरूपा की तपस्या से प्रसन्न होकर राम ने इसी आदि-शक्ति के साथ[१] दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ किया और कहा था :

'आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोर यह माया॥[२]

सीता ब्रह्म की वह 'माया' और मूल प्रकृति है, जिससे जगत् का उद्भव उसकी स्थिति और उसका संहार साधित होते हैं :

---

१ आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला।
बाम भाग सोभति अनुकूला॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई।
राम बाम दिसि सीता सोई॥

—मानस, बाल० १४८

२ वही, बाल० १५२

उद्भव स्थिति संहार कारिणीं सीता नतोऽहं राम बल्लभाम् ।[१]

सीता राम की 'योगमाया' हैं। वे राम से उसी प्रकार अभिन्न हैं, जिस प्रकार 'गिरा' से 'अर्थ' अथवा 'जल' से 'बीचि'।

गिरा अरथ जल बीचि सम,
कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दऊँ सीता राम पद,
जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥[२]

'भारतवर्ष के धर्म-मतों को अच्छी तरह देखने से पता लगता है कि एक आदि-युगल में विश्वास भारतीय मानस का एक आदि धर्म-विश्वास है। यह आदि युगल-विश्वास शैव नहीं है, वैष्णव नहीं है, सौर गाणपत्य नहीं है। यह वेदान्त नहीं है, सांख्य नहीं है, तंत्र नहीं है—वह हिन्दू भी नहीं है, बौद्ध जैन भी नहीं है—यह भारत में सर्वत्र है। दर्शन-सम्प्रदाय-निरपेक्ष यह विश्वास भारतीय चिन्ता की सामान्य विशेषता है।'[३]

निर्गुण-सगुण के विवेचन के सन्दर्भ में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करना अभीप्सित है।

(१) तुलसी के मत में परामर्थ दृष्टि से निर्गुण और सगुण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। निर्गुण और सगुण—इन उभय रूपों का विवेक कराने के लिए गोस्वामी जी ने जो दृष्टान्त दिया है, उससे यह मत पुष्ट हो जाता है :

एक दारुगत देखिअ एकू।
पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ॥[४]

(२) निर्गुणवादी कबीर ने निर्गुण और सगुण इन दोनों रूपों में भेद देखा—'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना'। तुलसी को यह भेद सह्य नहीं था और कबीर की बात को पार्वती के मुख से पूर्व-पक्ष के रूप में कहलाकर शंकर द्वारा वे उसका समाधान कराते हैं। शंकर कहते हैं 'जो तुम कहहु राम कोऊ आना'—ऐसा तो मोह-ग्रस्त, अविवेकी और पाखण्डी लोग कहा करते हैं। तत्त्वतः,

---

१ वही, बाल० १
२ वही, बाल० १८
३ डा० शशिभूषण दासगुप्ता : श्री राधा का क्रम-विकास
४ मानस, बाल० २३

आदि अंत कोउ जासु न पावा।
मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी।
महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥[१]

अर्थात् उपनिषदों में जो निर्विशेष परम तत्त्व 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' आदि रूप से कथित-प्रथित है, उसमें और दशरथ-सुत राम में कोई भेद नहीं है।

(३) जैसा कि शङ्कराचार्य शारीरक भाष्य (३।२।११) में कहते हैं, परब्रह्म के स्वतः ही दो लिंग उपपन्न नहीं होते क्योंकि एक ही वस्तु स्वभावतः रूपादि विशेष युक्त और रूपादि विशेष रहित रूप से अवधारित नहीं की जा सकती। उपाधियोग से स्वभाव प्रच्युत नहीं हो सकता। स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक अलक्तक आदि उपाधि के योग से अस्वच्छ नहीं हो जाता। अस्वच्छता का अभिनिवेश स्फटिक में भ्रम मात्र है। उपाधियाँ अविद्या से उपस्थापित होती हैं, इसलिए अभ्यन्तर लिंग का परिग्रह करें, तो भी ब्रह्म को समस्त विशेषों से रहित निर्विकल्प रूप में ही अवधारित करना होगा। शारीरक भाष्य में ही एक दूसरे स्थल पर आचार्य कहते हैं कि विद्या-अविद्या-विषयक भेदों के कारण श्रुतियों में ब्रह्म का द्विरूपत्व उपदिष्ट हुआ है। विद्वान् के निकट वह एकान्त निर्गुण, निष्क्रिय, अक्षर एवं अद्वैत है; अविद्वान् के निकट वह सगुण एवं बहु है।[२]

---

१ वही, बाल० ११८

२ Personal is an incomprehensible way in so far as the conception of His personality surpasses all our view of personality. This is so just because He and He alone is a true, real and genuine person. Were we to overlook this and try to conceive God in our our strength, according to our conception of personality, we should make an idol out of God.

—Karl Barth : 'The Knowledge of God and the service of God'. p. 31

गोस्वामी जी इसीलिए कहते हैं कि जो परमार्थ विद् हैं, वे ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष ही मानते हैं :

अगुन अखंड अनंत अनादी ।
जेहि चितहिं परमारथ बादी ॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा ।
निजानंद निरुपाधि अनूपा ॥[१]

ब्रह्मसूत्रकार व्यास ने भी 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिंग सर्वत्र हि' सूत्र द्वारा ब्रह्म की द्विरूपता का खण्डन और 'अरूपदेव ही तत्प्रधानत्वात्' सूत्र द्वारा ब्रह्म की निर्विशेषता का उपपादन किया है।

तत्वतः विद्या-अविद्या विषयक भेदों के ही कारण शतशः श्रुतियों में ब्रह्म की द्विरूपता का वर्णन है। परमार्थ विद् के निकट वह निर्गुण, निष्क्रिय, अक्षर एवं अद्वैत है। अविद्वान् के निकट वह सगुण और बहु है।

(४) जहाँ सगुण-परक और निर्गुण-परक दोनों वचन साथ-साथ मिलें वहाँ विरोध-परिहार के लिए निर्गुण रूप को ही तात्त्विक मानना होगा। 'मायाधीस ग्यान गुन धामू' आदि वचनों के आधार पर यदि तुलसी के राम को स्वरूपतः सगुण ही मानें तो उस ब्रह्म का उसी रूप में कथन हो सकता है और 'अगुन अखंड अनंत अनादी', 'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद', 'व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप', 'अकल अगुन अज अनघ अनामय' इत्यादि वचन निरर्थक हो जाएगें। इसलिए ब्रह्म को परमार्थतः निर्गुण, निर्विशेष ही मानना चाहिए और माया उपाधि के संयोग से सशरीर और सविशेष भी। ऐसा मानने से दोनों प्रकार के वचन सार्थक हो जाएँगें। ब्रह्म में सविशेषता और शरीरता मायाकृत है, स्वाभाविक नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए किष्किंधा काण्ड के मंगलाचरण में गोस्वामी जी कहते हैं :

'माया मानुष रूपिणौ रघुवरौ सद्धर्मवर्मौं हितौ।'[२]

(५) राम का निर्गुण स्वरूप मन का अविषय (निर्गुन मन तें दूरि) होने के कारण भक्ति के उपयुक्त नहीं है। इसलिए जो उनके अवतारी स्वरूप का ही ध्यान कर संसृति-सागर को पार करना चाहते हैं, उन्हें सगुण रूप में ही प्रीति होती है। राम का स्तवन करते हुए अगस्त्य कहते हैं :

---

१ मानस, बाल० १४४
२ वही, किष्किन्धा० १

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता ।
अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता ॥
अस तव रूप बखानऊँ जानऊँ ।
फिर फिर सगुन ब्रह्म रति मानऊँ ॥[१]

और, कागभुशुण्डि राम के काननचारी रूप के ही ध्यान की याचना करते हुए कहते हैं :

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी ।
सबके हृदय निरन्तर बासी ॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी ।
बसहुँ मनसि मम काननचारी ॥

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों में 'जद्यपि' और 'जदपि' पदों के प्रयोग को साभिप्राय और अन्वर्थक ही मानना होगा । यहाँ यही अभिप्रेत है कि ब्रह्म यद्यपि निर्विशेष ही है, तथापि हमें तो उसका सगुण रूप ही इष्ट है । कहा भी है :

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

अगस्त्य और कागभुशुण्डि के मुख से कवि ने ब्रह्म के निर्विशेष रूप की तात्त्विकता की बात कहलाकर अपने ही मन्तव्य की पुष्टि की है ।

(६) 'दोहावली' में गोस्वामी जी लिखते हैं :

ग्यान कहै अग्यान बिनु तम बिनु कहै प्रकास ।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास ॥

इसका अर्थ यही है कि निर्गुण के ध्यान के लिए प्रथमतः सगुण की उपासना आवश्यक है । सगुण-उपासना द्वारा चित्त की शुद्धि और अन्तःकरण के मल विक्षेपादि दोषों को दूर किए बिना चित्त में निर्गुण रूप की प्रतिष्ठा शक्य नहीं । इसीलिए शारीरक भाष्य (३।२।४) में शङ्कर कहते हैं कि जो वाक्य साकार ब्रह्म विषयक हैं, वे साकार-ब्रह्म-प्रधान नहीं हैं, उपासना-विधि-प्रधान हैं । अन्यत्र छान्दोग्य-भाष्य (८।१।१) में वे कहते हैं कि यद्यपि आत्म-तत्त्व सत्, एक मात्र सम्यक् ज्ञान का विषय और निर्गुण है, तो भी मन्द बुद्धि पुरुषों के लिए उसकी सगुणता ही इष्ट है । इसलिए उसके सत्य संकल्पादि गुणों का प्रतिपादन आवश्यक है । 'न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धि' सूत्र की व्याख्या करते हुए आचार्य

१ वही, अरण्य० १३

शारीरक भाष्य में कहते हैं कि जहाँ अविद्या प्रयुक्त नाम और रूपादि विशेष के प्रतिषेध से अस्थूल आदि शब्दों से ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, वह परब्रह्म है और वह जब नाम और रूप आदि किसी विशेष से विशिष्ट होता हुआ उपासना के लिए 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' इत्यादि शब्दों से कहा जाता है तब यही अपरब्रह्म होता है।[१]

अभियुक्तों का वचन है :

निर्विशेष परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दा तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेष निरूपणैः ॥

जो मन्द पुरुष निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, उन पर अनुग्रह कर भगवती श्रुति ने सविशेष ब्रह्म का निरूपण किया है। ऐसा करके श्रुति ने कोई वंचना की है, यह भी नहीं कह सकते, यतः

वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवा विर्भवेत्साक्षादपेतोपाधि कल्पनम् ॥

सगुण ब्रह्म की उपासना के अनन्तर मन निर्गुण उपासना के योग्य हो जाता है और सगुण रूप से उपासित ब्रह्म का ही निर्गुण रूप से साक्षात्कार होता है।

(७) माण्डूक्य श्रुति के अनुसार शिव स्वरूप निर्विशेष तत्त्व अचिन्त्य और अव्यवहार्य है। तुलसी को अपने प्रयोजन की व्यावहारिकता लिए सगुण स्वरूप का अवलम्बन इष्ट हुआ। इसका बहुत कुछ दायित्व तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर है। भक्ति के लिए तो निर्विशेष ब्रह्म से काम चल नहीं सकता था और गोस्वामी जी को उस भक्ति की फिर से प्रतिष्ठा करनी थी, जिसे गोरख के योग ने भगा दिया था (गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग)। योगियों और सूफियों के मेल से जो संत मत चल पड़ा था, उसका बहुत कुछ प्रचार हो गया था। तुलसी ने अपनी क्षोभ प्रकट करते हुए लिखा :

साखी सबदी दोहरा कहि कहिनी उपखान ।
धरम निरूपहिं भगति कलि निंदहि वेद पुरान ॥

तुलसी ने देखा कि इन नाना मत-मतान्तरों के प्रचलन से भक्ति का वह

---

१ यत्रा द्विद्याकृत नामरूपादि विशेष प्रतिषेधादस्थूलादि शब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत परम्। तदेव यत्र नामरूपादि विशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूप, इत्यादि शब्दैस्तदपरम्।

—शारीरक भाष्य, ४।३।१४

तत्त्व ही लुप्त हो जाएगा, जो एक अमृत-स्रोत की भाँति भारतीय जीवन में प्रवाहित होता आ रहा है। इसलिए उन्होंने गोरख इत्यादि महात्माओं द्वारा प्रचारित जटिल धर्म-सम्प्रदायों का विरोध किया और सगुण मतवाद की प्रतिष्ठा की।[१]

१ द्रष्टव्य :
श्रीश कुमार: 'मानस : बालकाण्ड के स्रोत' पृ० १०५

माथा

माया

दर्शन के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्न यह है कि आत्मा का चित्त के साथ योग कैसे उपपन्न होता है और चित्त में संवित् किस हेतु से उत्थित होते हैं ? ब्रह्म अद्वय है; उसे नोदन देने वाला पदार्थ कौन होगा ? संवित् के प्रति सक्रियता से ही चित्तरूपता की निष्पत्ति होती है अतः परवर्त्ती होने से चित्त प्रेरक नहीं हो सकता। संवित् चित्त का परिणाम है और एतदुभय में अन्योन्याश्रय भाव है, यतः संवित् ही ज्ञान इच्छा और संकल्प के आश्रय हैं। संवितों से नोदन प्राप्त होने की कल्पना भी असंगत है। संवित् स्वतः चित्त-परिणाम होने से चित्त का हेतु नहीं हो सकता। ब्रह्म अपनी ही प्रेरणा या स्वभाव के अनुरोध से निष्क्रिय से सक्रिय हुआ, यह कथन भी अनुपपन्न है क्योंकि ऐसी स्थिति में उसकी कूटस्थ एकरसता बाधित हो जायेगी और उसका सर्वसाक्षित्व खण्डित हो जाएगा ; और वह परिणामी और परिवर्त्तनशील हो जाएगा। पुनः प्रश्न होगा कि ब्रह्म यदि अद्वय भी है और अपरिवर्त्तनशील भी तो अनुक्षण अनुभूत दृश्यप्रपंच की क्या व्यवस्था होगी ; उसके उत्स का निदान कैसे होगा ? शून्य से तो प्रपंच का निर्गम हो नहीं सकता, क्योंकि असत् से सत् की उत्पत्ति असंभाव्य है। अतः मानना होगा कि ब्रह्म कूटस्थ, अपरिणामी और एकरस है है और उसी आस्पद में चित्त अध्यास से प्रपंच का आरोप करता है। यही अविद्या या माया है। जगत् के समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की मूल भित्ति यही अध्यास ही है।[१]

स्वयंप्रकाश आत्मा में अज्ञान कहाँ से आया, ऐसी शंका युक्त नहीं। वह अनिर्वचनीय है, अतः उसके कारण का अन्वेषण व्यर्थ है—'नाऽन्वेष्यं चाऽत्र

---

१ It is the old question, 'How does the real become phenomenal ?' It is the relation of Atma to the upadhis of body, senses, mind and sense—objects that accounts for its phenomenal character ; but this relation between the Atman and the psychological self is inexplicable, maya or mysterious.
—S. Radhakrishnan : Indian Philosophy, Vol. II p. 604

कारणम् ।'[१]

अगुण विभु ने गुणामयी सारी सृष्टि सदसद्रूपा आत्म-माया के द्वारा ही की है :

गगन समीर अनल जल धरनी ।
इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी ॥
तव प्रेरित माया उपजाए ।
सृष्टि हेतु सब ग्रंथन्हि गाए ॥[२]

राम की प्रेरणा से ही माया पंच महाभूतों को उत्पन्न करती है और इसी भूत-समष्टि के सहकार से सृष्टि की रचना होती है ।

स्वतः भगवान् कहते हैं :

मम माया संभव संसारा ।
जीव चराचर विविध प्रकारा ॥[३]

सारा चराचर दृश्य-प्रपंच भगवान् की माया से ही जन्य है । माया त्रिगुणात्मिका है और गुणों के सहकार से ही वह विश्व की रचना में समर्थ होती है :

एक रचइ जग गुन बस जाकें ।[४]

विद्या और अविद्या भेद से माया द्विविध है :

तेहि कर भेद सुनहु तुम सोऊ ।
विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥[५]

कूर्मपुराण में कथित है कि भगवान् की जो आत्म-भूता पराशक्ति है, वही विद्या है और उनकी माया शक्ति ही अपरा शक्ति है—वही लोक-वमोहिनी अविद्या है, इस परा शक्ति विद्या के द्वारा ही वे अपनी माया का उच्छेद करते

---

१ नैष्कर्म्यसिद्धि ३।६५

२ मानस, उत्तर० ५९

३ वही, उत्तर० ८५

४ वही, अरण्य० १५

तुलनीय;

रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः ।
—विवेक चूड़ामणि, ११२

५ मानस, अरण्य० १५

है।[1]

आवरण और विक्षेप शक्तियों के भेद से अविद्या पुनः द्विविध है। लक्ष्मण को राम इन दो भेदों को मनःस्थित कराते हुए कहते हैं :

एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा।
जा बस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥[2]

आवरण ज्ञान को आवृत्त करता है और उसी के फल से जीव भव-कूप में पतित होता है। 'विनय पत्रिका' में भी गोस्वामी जी कहते हैं :

'द्वैतरूप भवकूप परो नहिं अस कछु जतन विचारो।'

और विक्षेप ही विश्व की कल्पना का बीज है।

भागवत में माया की इन्हीं दोनों शक्तियों का उल्लेख करते हुए भगवान कहते हैं :

ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥[3]

वास्तव वस्तु के बिना भी जिससे आत्मा (अधिष्ठान) में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है—जैसे आकाश में एक ही चन्द्रमा होने पर भी नेत्र के दोष से दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं एवं जिससे सत् वस्तु की भी प्रतीति नहीं होती—जैसे राहु के विद्यमान रहते हुए भी वह नक्षत्र-मण्डल में नहीं दीखता, वही भगवान की माया है।

भावरूप स्वप्रकाश आत्मतत्व में 'नास्ति' और 'न भाति' इत्याकारक व्यवहार-योग्यता आवरण-शक्ति का कर्तृत्व है और अनन्त अद्वैत में सान्त परिच्छिन्न द्वैत की प्रतीति करा देना विक्षेप-शक्ति की विलक्षणता है।

---

१ अहमेव हि संहर्ता संस्रष्टा परिपालकः।
माया वै मामिका शक्तिर्माया लोकविमोहिनी॥
मामेव च परा शक्तिर्या सा विद्येति गीयते।
नाशयामि तया मायां योगिनां हृदि संस्थिता॥
—कूर्म पु० उपरिभाग ४।१८-१९

२ मानस, अरण्य० १५

३ भागवत १।१।३४

श्री विद्यारण्य जी कहते हैं कि परमात्मा में 'अस्ति', 'प्रकाशते' इस प्रकार की व्यवहार-योग्यता होने पर भी उसका 'नास्ति न प्रकाशते' इस विपरीत व्यवहार के योग्य हो जाना ही आवरण का स्वरूप है।[१] 'पंचदशी' के 'दृग्दृश्य विवेक प्रकरण' में माया की इन दो शक्तियों का उल्लेख इस प्रकार है :

शक्तिद्वयं हि माया.या विक्षेपावृत्तिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्त जगत् सृजेत्॥
अन्तर्दृग्दृश्योर्भेद बहिश्च ब्रह्म सर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम्॥[२]

माया आवरण करती है अतः वह भावरूप है। अभावरूप पदार्थ में आवरण का सामर्थ्य नहीं हो सकता।[३] अभाव के परीक्षण में विचक्षण नैयायिकों ने भी अभाव में आवरणकारकता नहीं स्वीकार की है। अविद्या आवरण-क्षम है। गीता में भी ऐसा ही प्रतिपादन है।[४]

अखिल विश्व, ब्रह्मादि देवासुर सभी इस माया के वशवर्त्ती हैं :

(क) यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा।[५]

(ख) प्रभु माया बलवंत भवानी।
जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी॥
ज्ञानी भगत सिरोमनि, त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर, पावंर करहिं गुमान॥

---

१ विवरण प्रमेय संग्रह, सूत्र १, वर्णक १

२ पंचदशी, दृग्दृश्य विवेक प्रकरण १३, १५

३ नाऽभावताऽस्यघटते वरणात्मकत्वान्नाऽभावभावरणमाहुरभावशौण्डाः।
अज्ञानमावरणमाह च वासुदेवस्तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः॥
—संक्षेप शारीरक, १।३२०

४ धूमेनाऽऽव्रियते वन्हिर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्वेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
—गीता ३।३८
अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।
—गीता ३।३८

५ मानस, बाल० १

सिव विरंचि कहुँ मोहै, को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान ॥[१]

(ग) सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।
अपर जीव केहि लेखे माहीं ॥[२]

राम की माया बड़ी प्रबल है :

सुनु खग प्रबल राम की माया।[३]

यह बलात्कारपूर्वक ज्ञानियों के चित्त का भी अपहरण कर लेती है :

जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई।
बरिआई विमोह बस करई ॥
जेहि बहु बार नचावा मोही।
सोइ व्यापी विहंगपति तोही ॥[४]

मन की सारी विकृतियाँ माया-जन्य ही हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मनोरथ, मत्सर आदि विविध मानस-रोगों का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी इन्हें माया के परिवार में ही परिगणित कर लेते हैं :

यह सब माया कर परिवारा।
प्रबल अमित को बरनै पारा ॥[५]

पर भगवान् के भक्तों और सेवकों को माया अभिभूत नहीं कर सकती :

नट कृत बिकट कपट रघुराया।
नट सेवकहिं न व्यापइ माया ॥[६]

कूर्मपुराण (पूर्व भाग) के द्वितीय अध्याय में उल्लेख है कि सृष्टि के आदि में विष्णु से ब्रह्मा और शिव और तदनन्तर श्री का आविर्भाव हुआ। आविर्भाव के अनन्तर ही नारायणी महामाया विष्णु के निकट उपस्थित हुई। उन्हें देखकर ब्रह्मा ने विष्णु से कहा—'अशेष भूतों को मोहित करने के लिए इस सुरूपिणी को नियुक्त करो' :

---

१ वही, उत्तर० ६२
२ वही, उत्तर० ७१
३ वही, उत्तर० ५६
४ वही, उत्तर० ५६
५ वही, उत्तर० ७१
६ वही, उत्तर० १०३

'मोहायशेषभूतानां नियोजय सुरूपिणीम्'

तब नारायण ने हँसकर इस देवी से कहा—'मेरे आदेश से सदेवासुर-मानव निखिल विश्व को मोहित करके संसार में विनिपातित करो'। परन्तु नारायण ने महामाया को सावधान करते हुए कहा—'ज्ञानयोगरत, दान्त और अक्रोधन सत्यपरायण व्यक्तियों का दूर से ही परित्याग करना।'

माया नट राम की नर्त्तकी है। इसलिए वह भक्ति और भक्तों से भीत ही ही रहती है :

पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी।
माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया।
ताते तेहि डरपति अति माया॥[१]

स्वरूपावस्था में अविकृत नित्य परमात्मा सदेकरूप हैं। क्योंकि वे माया या प्रकृति से अतीत हैं। इस प्राकृत शक्ति से परमेश्वर का साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण सर्वत्र ही उन्हें 'प्रकृतिपार' कहा गया है :

(क) व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा।
माया मोह पार परमीसा॥[२]

(ख) प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥[३]

माया राम की दासी है। राम उसके स्वामी हैं, इसलिए राम को मायापति मायाधीश आदि कहा गया है :

(क) मायाधीस ज्ञान गुन धामू।[४]

(ख) मायापति कृपाल भगवाना।[५]

---

१ मानस, उत्तर० ११६
तुलनीय :
त्वधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी।
—अध्यात्म रामायण, २।६।५६

२ मानस उत्तर० ५८

३ वही, उत्तर० ७२

४ वही, बाल० ११७

५ वही, उत्तर० ८२

(ग) मायापति सेवक सन माया ।[१]

(घ) अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ।[२]

माया राम की चेरी है :

सो दासी रघुबीर के समझें मिथ्या सो पि ।[३]

संसार को मोह-मुग्ध करने वाली माया राम के इंगित पर नाचा करती है :

जो माया सब जगहि नचावा ।
जासु चरित लखि काहु न पावा ॥
सोइ प्रभु भ्रूविलास खगराजा ।
नाच नटी इव सहित समाजा ॥[४]

इसलिए माया मायापति से सदैव भयभीत रहती है :

(क) जीव चराचर बस कै राखे ।
सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥[५]

(ख) देखी माया सब विधि गाढ़ी ।
अति सभीत जोरे कर ठाढ़ी ॥[६]

माया स्वतः तो जड़ है । राम के आश्रय से ही उसमें क्रियाशीलता आती है :

(क) जासु सत्यता ते जड़ माया ।
भास सत्य इव मोह सहाया ॥[७]

(ख) यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ।[८]

माया शक्ति यतः भगवासन् की ही आश्रिता है, अतः उससे मुक्ति के लिए एक मात्र अवलम्ब है—भगवान् का अनुग्रह और उनका स्वरूप-चिन्तन । पर-

---

१ मानस, अयोध्या० २१८
२ वही, उत्तर० ६२
३ वही, उत्तर० ७१
४ वही, उत्तर० ७२
५ वही, बाल० २०२
६ वही, बाल० २००
७ वही, बाल० ११७
८ वही, बाल १

आत्मा में सारी वो स्थापित होने पर ही, उस दुस्तरा माया से उद्धार हो सकता है। गीता में भगवान् कहते हैं 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'। भागवत[१] और विष्णु-पुराण[२] में भी ऐसा ही उल्लेख है।

गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवान् के अनुग्रह से ही जीव माया के पाश से मुक्त हो सकता है :

नाथ जीव तव माया मोहा।
सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा॥[३]

गोस्वामी जी कहते हैं 'मैं और मेरा', 'तैं और तेरा' यही माया है :

मैं अरु मोर तोर तैं माया।[४]

'मैं अरु मोर' ही सब अनर्थों का मूल है। अहंभाव की स्फूर्ति के अनन्तर ही दृश्य-प्रपञ्च का जो स्वल्प तुच्छ है, अवभास होता है। 'मैं' का प्रतियोगी या प्रतिद्वन्द्वी ही 'तैं' है। 'मैं' के स्फुरण के अनन्तर 'तैं' का स्फुरण होता है।

शारीरक भाष्य में आचार्य कहते हैं कि स्वाभाविक ब्रह्मात्मता का त्यागकर अविद्यावश ही सब जन्तु विकारों में 'मैं' 'मेरा' इस प्रकार आत्म-भाव और आत्मीय भाव रखते हैं।[५]

गोस्वामी जी कहते हैं कि इस दृश्य प्रपंच का कार्य-प्रवाह अनादि है :

देवि मोह बस सोचिय बादी।
बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी॥[६]

---

१ भागवत ४।२०।३२
२ विष्णु-पुराण ५।३०।१४-१६
३ मानस, किष्किन्धा० ३
४ वही, अरण्य० १५
तुलनीय :

द्वैतं मत्याखिलं समुत्थितमिदं मिथ्या मनःकल्पितं।
तोयं तोयविवर्जिते मरुतले भ्रान्त्यैव सिद्धं न हि॥
यद्वेवं खलु दृश्यमेतदखिलं नाहं न वा तन्मम।
प्रौढानन्द विवेकसन्मयवपुः शुद्धोऽस्म्यखंडोऽ स्म्यहम्॥

—प्रौढानुभूति, २

५ शारीरक भाष्य, २।१।१४
६ मानस, अयोध्या० २८२

यहाँ शंका होती है कि अध्यास यदि कार्य है तो उसे अनादि कैसे कहेंगे। इसका समाधान यह है कि आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व संसर्ग ही अध्यास है। भोक्तृत्वमूलक अध्यास कर्तृत्वाध्यास की अपेक्षा रखता है और कर्तृत्व राग-द्वेष-वृत्ति के बिना बनता नहीं। ये राग द्वेषादि कर्तृत्व के बिना अनुपपन्न हैं। अतः रागादिदोषसंसर्गाध्यास भोक्तृत्व निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसी क्रम से बीजांकुर न्याय से प्रपञ्च का अनादित्व सिद्ध है। यहाँ अन्योन्याश्रय दोष अकल्पनीय है, क्योंकि अनादि प्रवाह-परंपरा-प्रसंग में अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता।

यह अध्यास अनादि है, इसके समर्थन में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्याज्ञानस्वरूप और आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व उत्पन्न करने वाला यह अध्यास सब लोगों को प्रत्यक्ष है।[१]

अविद्या अनादि है और अविद्या का कार्य होने से अध्यास अविद्यात्मक, अतः अनादि है। अध्यास संस्कारजन्य भी होते हैं और संस्कारों के जनक भी। इस प्रकार अविच्छिन्न क्रम चलता रहता है। इसीलिए अध्यास को नैसर्गिक कहा गया है। यहाँ नैसर्गिकता अविच्छिन्नता अर्थ में ही उपपन्न है।

समस्त दृश्य-प्रपंच माया—जन्य होने के कारण मिथ्या है। राम की सत्ता से ही स्फूर्ति पाकर वह सत्य सा भासित होता है :

यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौयथाहेर्भ्रमः।[२]

संसार मनोमात्र है, स्वप्न तुल्य और असत्। शिव पार्वती से कहते हैं :

उमा कहऊं मैं अनुभव अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना॥[३]

जैसे स्वप्न का जगत् अनुभव का विषय और व्यवहार में समर्थ होता हुआ भी असत् रूप है, वैसे ही जागरित—अवस्था का जगत् अनुभवगम्य और व्यवहार

---

१ एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः।

—शारीरक भाष्य १।१।१

२ मानस, बाल० १
तुलनीय :
तन्तोर्भेदे पटे यद्वच्छून्य एव स्वरूपतः।
आत्मनोऽपि तथैवेदं भानमात्मनं चराचरम्॥

—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक २०

३ मानस, अरण्य० ३६

समर्थ होने पर भी बाधित हो जाने के कारण असत्य है।[१] ऐतरेय भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि जागरित स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं। प्रबोध स्वरूप होने के कारण जागरित स्वप्न नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता; वह भी स्वप्न ही है, क्योंकि उस काल में परमार्थ आत्म-स्वरूप के बोध का अभाव होता है और स्वप्न के समान असत् वस्तुएँ दृश्य होती हैं।[२]

इन्द्रियाँ और उन इन्द्रियों के समस्त विषय मायिक ही हैं :

'गो गोचर जंह लगि मन जाई।
सो सब माया जानुहु जाई॥'[३]

व्यवहार और परमार्थ का भेद निरूपित करते हुए लक्ष्मण निषाद से कहते हैं :

जोग वियोग भोग भलमंदा।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनम मरनु जहँ लगि जग जालू।
संपति विपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू।
सरगु नरकु जँह लगि व्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं।
मोह मूल परमारथु नाहीं॥
सपनें होइ भिखारि नृपु, रंक नाकपति होई।
जागें हानि लाभु न कछु, अस प्रपंच जियं जोइ॥[४]

तुलनीय :

स्वप्न द्वैतंवदेवजाग्रतमपि द्वैतं मनोमात्रकम्।
—शंकराचार्यःप्रौढ़ानुभूति, श्लोक ६

१ अनुभूतोप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन्।
असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधतः॥
—शंकराचार्य : अपरोक्षानुभूति, श्लोक ५५

२ ऐतरेय उ० १।३।१२ पर शां० भाष्य।

३ मानस, अरण्य० ३०७
तुलनीय:
माया मायाकार्यं सर्वं महदादि देहपर्यन्तम्।
असदिदमनात्मकत्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम्॥
—शंकराचार्यः विवेक चूड़ामणि, श्लोक १२५।

४ मानस, अयोध्या० ९३

जगत् परमार्थ सत्य नहीं है। उसकी व्यावहारिक सत्यता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि व्यावहारिक सत्यत्व को सत्य का भेद नहीं माना जा सकता। कुमारिल भट्ट ने ठीक ही कहा है कि संवृत्ति में सत्यत्व नहीं रह सकता, क्योंकि संवृत्ति सत्य, सत्य-विशेष है—यह किस प्रमाण से सिद्ध होगा? यदि संवृत्ति सत्य है तब उसमें संवृत्तित्व (मिथ्यात्व) कैसे रहेगा? और यदि वह मिथ्या है, तो उसमें सत्यत्व कैसे रहेगा? मिथ्या-अर्थ तथा परमार्थ में 'सत्यत्व' जाति नहीं रह सकती; वैसे ही जैसे वृक्ष तथा सिंह में वृक्षत्व जाति नहीं रहती।

अतः 'मोह मूल परमारथ नाहीं' का यही अर्थ है कि जगत् असत्य है।

प्रपञ्च की प्रतिपत्ति किसी भी प्रमाण द्वारा शक्य नहीं। श्री हर्ष की उक्ति है :

नात्याप्त्या प्रमामात्रात् तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः।
तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्रयं कश्चिकित्सतु ॥

निरुक्तकार यास्क ने अनित्य भाव मात्र के छ विकार निरूपित किए हैं—'जायतेऽस्ति विपरिणमते अपक्षीयते नश्यतीति षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः।' अतः जगत् का तुच्छत्व सिद्ध है। प्रसिद्ध उक्ति है :

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥

ज्ञान के साथ ज्ञेय के किसी भी सम्बन्ध का निरूपण नहीं हो सकता, इससे भी दृश्य का मिथ्यात्व सूचित होता है। सृष्टि का मिथ्यात्व श्रुति, प्रत्यक्ष, अनुमानादि सभी प्रमाणों से सिद्ध है। 'नास्ति द्वैतं'[१], 'वाचारम्भणंविकारो नामधेयम्'[२], 'नेह नानास्ति किञ्चन'[३], 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'[४], 'मायी सृजते विश्वमैतत्'[५], 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[६], इत्यादि श्रुतियाँ प्रपञ्च के मिथ्यात्व में प्रमाणभूत हैं।

---

१ छान्दोग्य उप० ६।२।१
२ वही, ६।१।४
३ बृहदारण्यक उप० ४।४।१९
४ श्वेताश्वतर उप० ४।१०
५ वही, ४।९
६ बृहदारण्यक उप० २।५।१९

'माया मात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्'[१] इत्यादि सूत्रों में भी यही कथित है कि स्वप्न-पदार्थ स्वप्न-दशा में अर्थ-क्रियाकारी होने पर भी जागरित दशा में जैसे बाधित हो जाते हैं, वैसे ही जागरित दशा में अनुभूत और अर्थक्षम पदार्थ तुरीय-दशा में बाधित हो जाते हैं। अतः उनका मायिकत्व है।

घट आदि के अभाव का बोध कराने वाले प्रत्यक्ष से भी प्रपञ्च का वैतथ्य प्रमाणित है। जैसे कि 'यह सर्प है' इस प्रतीति में इदन्ता रूप उपाधि में ज्ञात 'यह सर्प नहीं है' ऐसा बाध होता है एवं 'घट' है इस ज्ञान में 'अस्ति' के अर्थभूत सत्ता-रूप उपाधि में ज्ञात घट का उसी उपाधि में 'नास्ति' इस प्रकार प्रत्यक्ष से ही बाध-ज्ञान होता है। स्वप्न में, इन्द्रजाल में, इन्द्रिय-दोष-काल में अनेक अयथार्थ पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। प्रतीति-काल में तत्तत् पदार्थ की सत्ता निश्चित होती है। पर स्वप्नादि की निवृत्ति होने पर, निश्चयात्मक बाध-ज्ञान होता है। अतः प्रपञ्च के सद्भाव में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता।

श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैत सिद्धि' में 'विमतं मिथ्या दृश्यत्वात्, जड़त्वात्, परिच्छिन्नत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्' इस अनुमान द्वारा दृश्यत्व, जड़त्व और परिच्छिन्नत्व रूप हेतु से प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध किया है।

जगत् के मिथ्यात्व में अर्थापत्ति भी प्रमाण है। प्रपञ्च को मिथ्या माने बिना उसके जन्म और विनाश दोनों नहीं बन सकते; कारण कि मिथ्या नहीं माने जाने वाले ब्रह्म तथा शून्य तुच्छ का जन्म और विनाश दोनों नहीं देखे जाते।[२]

दृश्य के मिथ्यात्व में दूसरा प्रबल तर्क यह है कि दृश्य पदार्थ कभी तो व्यक्त रहते हैं और कभी अव्यक्त। अतः मानना होगा कि अव्यक्त दशा ही इनका यथार्थ रूप है, क्योंकि अव्यक्त-दशा से ही ये व्यक्त दशा में आते हैं और पुनः अव्यक्त दशा में ही ये लीन हो जाते हैं। आदि और अन्त में अव्यक्त ही इनकी दशा है। मध्य में प्रतीत होने वाली व्यक्त दशा को प्रतीयमान ही मानना होगा, पारमार्थिक नहीं। इसी न्याय से कहा गया है :

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।[३]

\+ \+ \+

---

१ ब्रह्म सूत्र २।१।१४

२ विवरण प्रमेय संग्रह, सूत्र २ वर्णक १

३ गौडपाद कारिका, २।६

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।[१]

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है; गोस्वामी जी कहते हैं :

'जेहि सृष्टि उपाइ त्रिविध बनाई'[२]

अतः गोस्वामी जी के मत में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मान्य है। जगत् ब्रह्म का कार्य है और जगत् के अस्तित्व में स्वयं कवि का वचन प्रमाण है, यदि ऐसी शंका हो तो वह भी युक्त नहीं, क्योंकि कवि को अन्य उक्तियों से स्वयं इसका विरोध हो जाता है। यथा :

(क) उमा कहऊँ मैं अनुभव अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना।[३]

(ख) रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोई भ्रम न सकइ कोउ टारि ॥[४]

ब्रह्म जगत् का विवर्त्तोपादान कारण है। शुद्ध ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अनृत प्रपञ्च की वैसी ही मिथ्या प्रतीति होती है, जैसे सीप में रजत की या सूर्य-किरणों में जल की।

'सिद्धान्त लेश संग्रह' में अप्पय दीक्षित परिणाम और विवर्त्त के अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि उपादान रूप से अभिमत वस्तु का समान सत्ता-वाला अन्यथाभाव—पूर्व रूप की अपेक्षा अन्य रूप से अवस्थान—परिणाम है और उपादान से विलक्षण सत्तावाला अन्यथाभाव विवर्त्त है। अथवा कारण—उपादान कारण का समान लक्षण—समानधर्मी-अन्यथाभाव परिणाम है और उपादान से विलक्षण—असमान धर्मी—अन्यथाभाव विवर्त्त है :

'वस्तुनस्तत्समसत्ता कोऽन्यथाभावः परिणामः तदसमसत्ताको विवर्त इति वा; कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्त इति वा'।

अप्पय दीक्षित ने विवर्त्त और परिणाम की भेदकता का एक दूसरा लक्षण भी दिया है :

---

१ गीता, ८।१८
२ मानस, बाल० १८५
३ मानस, आर०० ३९
४ वही, बाल० ११७

'कारणाभिन्नं कार्यं परिणामः, तदभेदं विनैव तदव्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तः इति वा विवर्तपरिणामयोर्विवेकः'।

अर्थात् उपादान कारण से अभिन्न कार्य परिणाम है और उपादान से अभिन्न न होकर उपादान के बिना दुर्वच—जिसका निर्वचन करना सम्भव नहीं ऐसा—कार्य विवर्त्त है। इस प्रकार विवर्त्त और परिणाम में भेद है।[१]

शिव-पार्वती संवाद में मायावाद और विवर्त्तवाद का स्पष्ट व्याख्यान मिलता है। रज्जु में सर्प का, सीप में रजत का, सूर्य-किरणों में मृग-जल का अध्यास आदि विवर्त्तवाद के दृष्टान्त हैं। पार्वती की शंका का समाधान करते हुए शंकर कहते हैं :

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ग्यान गुन धामू॥
जासु सत्यता ते जड़ माया।
भास सत्य इव मोह सहाया॥

रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥

एहि बिध जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई॥
जौं सपने सिर काटे कोई।
बिनु जागें न दूर दुख होई॥[२]

'वेदान्त-परिभाषा' में कथित है कि प्रातिभासिक रजतोत्पत्ति के लिए लौकिक सामग्री अपेक्षित नहीं, अपितु विलक्षण सामग्री अपेक्षित है। काचकामलादि दोषों से दूषित नेत्रों का अग्रवर्ती द्रव्य के साथ संयोग होने से 'इदं' इत्याकारिका अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्ति में इदंपदार्थावच्छिन्न

---

१ सिद्धान्त लेश संग्रह, प्रथम परिच्छेद

२ मानस, बाल० ११७–१८
तुलनीयः

(क) विश्वमात्मानुभवति तेनासौ नानुभूयते।
विश्वं प्रकाशयत्यात्मा तेनासौ न प्रकाश्यते॥
—शंकराचार्यः तत्वोपदेश, श्लोक १५

(ख) तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा।

चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। तत्पश्चात् तडागोदक रीति से वृत्ति के बहिर्निगमन से इदंपदार्थावच्छिन्न चैतन्य-वृत्ति, अवच्छिन्न चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य से अभिन्न विषय-चैतन्य में रहने वाली शुक्तित्व-प्रकारिका अविद्या रजत संस्कार रूप सामग्री के सहकार तथा नेत्र निष्ठाकाचादि दोष के सम्बन्ध से रजत-रूप अर्थ के आकार से तथा रजतज्ञानाभासाकार परिणाम को प्राप्त होती है।[१]

अब तुलसीदास दूसरे प्रकार के भ्रम की चर्चा करते हुए मरीचिका का दृष्टान्त उपस्थित करते हैं। सूर्य-किरणों के संयोग से सिकता में जल की भ्रान्ति होती है, यद्यपि जल वहाँ त्रिकाल में असत्य है। तात्पर्य यह कि जहाँ सीप में रजत आभासित होता है, वहाँ सीप रूप अधिष्ठान ही सत्य है, रजत अनिर्वचनीय मिथ्या है। वहाँ सूर्य-किरणों के संयोग से सिकता में जल का भ्रम हो जाता है, वहाँ जल भी अनिर्वचनीय मिथ्या है। वह सूर्य-किरणों की सत्ता से ही सत्तावान् है। उसकी त्रिकाल में कोई सत्ता नहीं है। ठीक इसी प्रकार जगत् भी ब्रह्म की सत्ता से ही भासित है। ब्रह्म के अतिरिक्त यह कुछ भी नहीं अनिर्वचनीय, मिथ्या है।

मिथ्या शब्द के दो अर्थ होते हैं—अपन्हव अर्थात् निषेध और अनिर्वचनीयता।[२] यहाँ मिथ्या शब्द का अनिर्वचनीयता ही अर्थ है। शुक्ति में रजत् का जो भ्रम है उसे 'प्रातिभासिक रजत' कहते हैं। इस रजत्-दर्शन को न तो हम सत कह सकते हैं (सच्चेन बाध्येत्) क्योंकि भ्रम नष्ट होने के पश्चात् शुक्ति का ही ज्ञान शेष रहता है, और न असत् ही (असच्चेत् न प्रतीयेत्) क्योंकि भ्रम-काल में रजत् को प्रतीति होती है। वस्तुतः जो पदार्थ सद्रूप या असद्रूप से न वर्णित किया जा सके उसकी ही शास्त्रीय संज्ञा अनिर्वचनीय है।

अद्वैतवादी अनिर्वचनीय ख्यातिवादी हैं। ख्याति (भ्रम ज्ञान) के विषय में पाँच प्राचीन मतभेद हैं।[३] आत्मख्यातिवादी (क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध)

यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥
—शंकराचार्यः आत्मबोध, श्लोक ६

१ द्रष्टव्य : वेदान्त-परिभाषा, पृ० २७

२ मिथ्याशब्दो द्वयर्थः—अपन्हवबचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्चेति।
—ब्रह्मसूत्र १।१।१ पर रत्नप्रभा भाष्य

३ आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचनीयख्यातिरेतत्ख्यातिपंचकम् ॥

के मत में विज्ञान के अतिरिक्त किसी की सत्ता ही नहीं है; रजत आदि विज्ञान-रूप ही हैं। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय का पृथक्-पृथक् अवभास भ्रम है। अनादि वासनाओं के सहकार से बुद्धि ही विचित्राकार भासती है। असत्ख्यातिवादी (शून्यवादी बौद्ध) 'इदं रजतम्' इस ज्ञान को स्मृति और अनुभव से भिन्न 'अध्यास' नामक ज्ञान मानते हैं। 'अध्यास' में असत् रजत आदि का ही भान होता है, ऐसी उनकी मान्यता है। अख्यातिवादी (मीमांसक) मानते हैं कि 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थलों में रजत से चक्षु आदि का सन्निकर्ष न होने से रजत की स्मृति और इदमंश का प्रत्यक्ष होता है। अन्यथाख्यातिवादी (नैयायिकों) की मान्यता है कि देशान्तरगत और कालान्तरगत रजत का शुक्ति से संयुक्त दुष्ट इन्द्रिय द्वारा ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति से ग्रहण होता है। अनिर्वचनीयख्यातिवादी (वेदान्तियों) का मत है कि पुरोवर्त्ती पदार्थ में रजतत्व सत्य है, ऐसा कथन युक्त नहीं है, क्योंकि वह बाधित होता है। इसी प्रकार रजत असत् है, यह कथन भी अनुपन्न है। अतः रजतत्व सत् और असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

अज्ञान तत्त्वज्ञान से बाधित होता है (जेहि जाने जग जाइ हेराइ) अतः सद्रूप नहीं है; समस्त सांसारिक व्यवहारों का निर्वाहक अध्यास भी इसी के द्वारा सिद्ध है, अतः इसे आकाश-कुसुम के समान अत्यन्त असत् भी नहीं कह सकते। इसीलिए इसकी आख्या सदसद्विलक्षण—अनिर्वचनीय है। ऋग्वेद में इसी आशय का एक मंत्र मिलता है, जहाँ प्रलयावस्था के वर्णन के क्रम में कथित है कि प्रलय में उपादानकारण अव्याकृत भाव रूप पदार्थ न असत् था और न सत् ही :

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमपरो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥[१]

इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं कि माया सत् भी नहीं, असत् भी नहीं और उभयरूप भी नहीं है। वह न भिन्न है न अभिन्न, न भिन्नाभिन्न उभयरूप ही, न अंग सहित है, न अंग रहित है और न उभयात्मिका ही है, किन्तु वह अद्भुत अनिर्वचनीया है—वह ऐसी है जो कही न जा सके।[२]

---

१ ऋग्वेद, १।११।१२९

२ सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो

इस संदर्भ में एक तथ्य की ओर इंगित करना अनिवार्य है। गोस्वामी जी कहते हैं कि ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति मात्र होती है, संसार-दर्शन की निवृत्ति नहीं होती। 'भ्रम न सके कोउ टारि' का यही अभिप्राय है। इस सन्दर्भ में 'न्यायसुधा' में ज्ञानोत्तमाचार्य जी कहते हैं कि संसारमूलकारणभूता अविद्या यद्यपि तत्त्वतः एक है, तथापि उसके विभिन्न आकार हैं। उनमें एक आकार तो प्रपञ्चगत परमार्थसत्त्व-भ्रम का हेतु है, दूसरा आकार अर्थ-क्रियावस्तु का कल्पक है और तीसरा आकार अपरोक्ष प्रतीति के विषयाकार का कल्पक माना जाता है। अद्वैत-सत्यत्व का निश्चय हो जाने पर समस्त द्वैतगत सत्यत्व का पहला आकार निवृत्त हो जाता है। दूसरा अर्थ क्रिया-समर्थ प्रपञ्च का उपादान-भूत मायाकार, तत्व-साक्षात्कार से विलीन हो जाता है। तीसरा अपरोक्ष-प्रतीति योग्य अर्थाकार (माया लेश) निवृत्ति नहीं होता। हाँ! समाधि-अवस्था में वह तिरोहित होता और अन्य अवस्था में देह और जगत् के आभास का हेतु होकर अनुवृत्त रहता है।

शरीर-आरम्भक कर्मों का आश्रय लेकर ज्ञान-जनक कर्म प्रारब्ध कर्म का विरोध न करते हुए ही अपना फल देते हैं। इसलिए उन प्रारब्ध कर्मों से प्रतिबद्धशक्ति होने के कारण तत्त्व-ज्ञान अविद्या-लेश का नाशक नहीं होता। 'समस्त कर्म अपने जनक अविद्या की निवृत्ति से निवृत्त हो जाते हैं' यह कथन संगत नहीं, क्योंकि प्रारब्ध-कर्म के जनक अविद्या-लेश का नाश नहीं होता।[१]

अस्तु; गोस्वामी जी कहते हैं कि सीप में रजत और भानुकर में वारि की भ्रान्ति मात्र होती है। इसी भाँति ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति मात्र होती है। जगत् वस्तुतः कभी उत्पन्न नहीं हुआ, वह प्रातिभासिक है, मिथ्या है। परन्तु यह जगत् असत्य होने पर भी दुख देता है—वैसे ही जैसे कोई स्वप्न में सिर काटे तो पीड़ा होगी। सिर का काटना और तज्जन्य पीड़ा सब भ्रान्ति मात्र है। पीड़ा से मुक्त होने का एक मात्र उपाय जग जाना ही है। इस स्वप्न के उदाहरण से कवि का अभिप्रेत है कि स्वप्न के विकल्प में केवल मन ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूप में विचित्रतया भासता है। इसी प्रकार शुद्ध संवित् भी विचित्राकार भासती है।

महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा ॥

—विवेक चूड़ामणि, श्लोक १११

१ दृष्टव्य:चित्सुखी, चतुर्थ अध्याय

इसी शिव-पार्वती-संवाद में दूसरे स्थल पर शंकर कहते हैं :

भूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहचाने॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई।
जागे जथा सपन भ्रम जाई॥[1]

वस्तुतः मिथ्या और सत्य का विभाग बुद्धि के अधीन है।[2] जिस पदार्थ को विषय करने वाली बुद्धि का नाश नहीं होता, वह पदार्थ सत्य है। मिथ्या विषयक बुद्धि का लोप हो जाता है; वैसे ही जैसे जब तक रज्जु का ज्ञान नहीं होता तब तक सर्प-विषयक बुद्धि बनी रहती है और रज्जु का ज्ञान होते ही सर्प विषयक बुद्धि का लोप हो जाता है। अतः रज्जु सत्य है और उसमें भासित होने वाला सर्प मिथ्या।[3]

इसी न्याय से यहाँ संसार का मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है। अधिष्ठान ज्ञान के अन्तर अध्यस्त पदार्थों का बाध हो जाता है।[4] जैसे रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत आदि कल्पित हैं और उन सब कल्पित वस्तुओं का अधिष्ठान के ज्ञान से बाध हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म में कल्पित संसार आदि ब्रह्मके ज्ञान से बाधित हो जाते हैं। रज्जु के यथार्थरूप ज्ञान से सर्प-भ्रम और तज्जन्य भय कम्पादि जैसे निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही दृश्य-प्रपंच के अधिष्ठान ब्रह्म के ज्ञान से, अध्यास और तज्जन्य समस्त अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है।

●

---

१ मानस, बाल० ११२

२ यद्विषया बुद्धिः न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया बुद्धिः व्यभिचरति तद् असद् इति सदसद्विभागे बुद्धितन्त्रे स्थिते।

—गीता २।१५ पर शा० भा०

३ द्रष्टव्य : पं० विजयानन्द त्रिपाठी की टीका।

४ साक्षात्कृते त्वधिष्ठाने समनन्तरनिश्चितिः।
अध्यस्यमानं नास्तीति बाध इत्युच्यते बुधैः॥

—वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, श्लोक ४०

जीव

जीव

जीव पंचभौतिक शरीर से पृथक्, नित्य तथा जन्म-मरण-बन्ध-विनिर्मुक्त है।[1] बालि के शव को देखकर विलाप करती हुई तारा को प्रबोध देते हुए भगवान् कहते हैं :

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥[1]

शरीर पंचभूतों से निर्मित है। अतः कृतक होने से यह अनित्य है। मलायतन होने से यह अशुचि, भोगायतन होने से दुःखरूप, तथा महाभूतों का समवाय होने से यह जड़ है; इसीलिए शरीर को अतिअधम कहा गया है। भगवान् कहते हैं कि जो शरीर तुम्हारे समक्ष प्रकट और निश्चेष्ट है, वह तो जड़ और विनाशी है। जीव तो सदा अव्यक्त ही है जैसा कि गीता में कथित है :

'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।'[2]

अहंकार और ममकार आ द द्वारा जो अव्यक्त या प्रकट होता है, वह व्यक्त कहलाता है। लिंग शरीर ही व्यक्त है। जीव तो लिंग शरीर के धर्मों का और उसकी सभी अवस्थाओं का साक्षी है, अतः उससे भिन्न होने के कारण वह तो अव्यक्त ही है। 'मुझे यह दुःख हुआ' इस प्रकार के दुःख से अनुभवितृतत्व का जिससे ज्ञान होता है, वह उससे भिन्न ही होता है। इस शरीर से भिन्न जीव की प्रकृति है। वह तो नित्य है।[3]

देह तो विकारी है। जो विकारी होता है, वह परिच्छिन्न हुआ करता है। जो विकारी होगा, उसका विनाश भी आवश्यक है। जिसका विनाश होता है, वह काल से परिच्छिन्न हुआ करता है। वृद्धि-क्षय-रूप विकार व्यापक के नहीं हुआ करते, इसलिए देह को अव्यापक कहना होगा। देह की अव्यापकता अनुभव-सिद्ध भी है, इसलिए देह में देश-परिच्छेद है ही। घटादि भिन्न वस्तुओं का भी देह में भेद है, इसलिए देह में वस्तु-परिच्छेद भी है। जो परिछिन्न होता है, वह आत्मा

१ मानस, किष्किन्धा०, ११
२ गीता २।२५
३ द्रष्टव्य :

नहीं हुआ करता। इसलिए ऐसा अनुमान करना चाहिए....'देह आत्मा नहीं है, घटादिकों की तरह परिच्छिन्न होने से।'

आत्मा में उत्पन्न होना, मरना, बढ़ना और क्षीण होना....ये धर्म नहीं बनते, क्योंकि उसमें देह के समान, बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओं का व्यभिचार नहीं है, किंतु वह उन व्यभिचारों का साक्षी है।

भागवत में कहा गया है कि शरीर आत्मा नहीं है, क्योंकि वह घट के समान पृथिवी का कार्य है।[१] संसार में स्थित भी आत्मा जो स्थूल-सूक्ष्म देह से परे, स्वयं ज्योति, आकाश के समान देहादि का आधार, निर्विकार, अनन्त, उपमारहित और व्यापक है, वह न जन्मता है, न मरण को प्राप्त होता है।[२]

शुकदेव परीक्षित को आत्मा की नित्यता का उपदेश देते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण के वाक्य से प्रेरित तक्षक तुमको (आत्मा को) नहीं जलाएगा, क्योंकि मृत्यु के कारण कालादि मृत्युओं के भी मृत्युरूप (कालों के भी काल) ईश्वर को नहीं जला सकते। भाव यह कि ईश्वर के साथ अभेद को प्राप्त हुए तुम्हें वे नहीं जला सकेंगे।[३] बलराम ने रुक्मिणी को प्रबोध देते हुए कहा कि जैसे कलाओं की वृद्धि और क्षीणता से चन्द्रमा में वृद्धि-क्षय का व्यवहार होता है, वैसे ही जन्म आदि व्यवहार देह के होते हैं, आत्मा के जन्म और क्षय आदि विकार कभी नहीं होते, किन्तु देह के जन्म और नाश से आत्मा के जन्म और नाश का व्यवहार किया जाता है।[४]

'न जीवो म्रियते',[५], स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म',[६] 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्',[७] 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः',[८] 'अयमात्मा

(क) गीता २।२०-२४
(ख) अध्यात्म रामायण, ४।३।१४-१६
(ग) भागवत ६।१६।८; ७।७।१८

१ नाऽऽत्मा वपुः पार्थिवम् भागवत, १।८।२४
२ भागवत ३।८।८
३ वही, ३।८।११
४ नाऽऽत्मनो न्येन संयोगो वियोगश्चा सतः सति।
तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्द्वयाभ्यां यथा रविः॥
जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नाऽऽत्मनः क्वचित्।
कलानामिव नैवेन्दोर्मृतिर्ह्यस्य कुहूरिव॥
—भागवत २।१०।४६-४७
५ छान्दोग्य उप० ६।११।३
६ बृहदारण्यक उप० ४।४।२५
७ कठ उप० २।१८
८ वही,

ब्रह्म सर्वानुभूः'[१] इत्यादि श्रुतियों द्वारा जीव का नित्यत्व समर्थित है। जीव विभक्त होने से विकारशील, विकारशील होने से जायमान और जायमान होने मरणशील भी होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जीव का विभाग स्वतः नहीं, उपाधि के योग से है। जैसे आकाश का विभाग घटादिसम्बन्ध से लक्षित होता है, वैसे ही बुद्धि आदि उपाधियों के संयोग से जीव भी विभक्त सा भासित है। तत्त्वतः तो वह निर्विकार, अविनाशी और अमरणधर्मा ही है।

शङ्कराचार्य कहते हैं कि जीव अज और अमर होने के कारण अविनाशी है, इसीलिए अमृत भी। यह जन्मादि तीन भाव-विकारों से रहित है, इसीलिए अन्य तीन भाव-विकारों तथा उनसे होने वाले मृत्यु-रूप काम, कर्म और मोहादि से भी रहित है।[२] जीव से वियुक्त हुआ यह शरीर ही मरता है, जीव नहीं मरता। अग्निहोत्र आदि वैदिक कर्मों की सार्थकता होने से भी जीव अमृत ही है।[३]

यद्यपि आत्मा स्वयं विकारी नहीं है, तो भी उदयाचल और अस्ताचल के साथ योग होने से सूर्य में जैसे विक्रियावत्व है, वैसे ही पूर्व और पश्च देह के ग्रहण और त्याग से आत्मा में औपाधिक विकारित्व संभाव्य है, अतः आत्मा का अविकारत्व असिद्ध है, ऐसी शंका युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे वस्त्र के ग्रहण और त्याग से पुरुष अविकारी ही रहता है, देह के भाव और अभाव दोनों स्थितियों में आत्मा अविकारी ही है, देह से भिन्न और देह के धर्म, कर्म और उसकी अवस्थाओं से विवर्जित है—ऐसा सूचन करने के लिए गोस्वामी जी कहते हैं :

जोइ तनु धरइ तजइ पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरइ नर परिहरइ पुरान॥[४]

मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को छोड़ कर दूसरे नवीन वस्त्रों को अर्थात् नाम, रूप और लक्षणों से पूर्व वस्त्रों से विपरीत वस्त्रों को स्वयं अविक्रिय होकर ही जैसे ग्रहण करता है, वैसे ही देह में अहं रूप प्रतीत होने वाला आत्मा स्वयं अविकार स्वरूप में स्थित होकर ही पुराने शरीरों का—काल और कर्म के कारण त्याज्य शरीरों का—त्याग कर दूसरे नाम, रूप, जाति और गुण के भेद से पूर्व शरीरों से विलक्षण देहों को धारण करता है, स्वयं विकारी नहीं होता। जैसे वस्त्रों का ही आना और जाना, नाम और रूप की ही विचित्रता और

१ बृहदारण्यक उप० २।५।१९
२ बृहदारण्यक भाष्य ४।४।२५
३ छान्दोग्य भाष्य, ६।११।३
४ मानस, उत्तर० १०९

शिथिलता होती है, पुरुष को नहीं होती, वैसे ही शरीरों में ही जन्म, नाश और दूसरे अवयवों का विकार होता है, निरवयव आत्मा में नहीं; इसलिए आत्मा, देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है, अधिकारी है और नित्य है, ऐसा सूचित होता है।[१]

शंकरोत्तर काल में जीव-ब्रह्म के स्वरूप को ज्ञापित करने वाले आभास-वाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद आदि अनेक वाद प्रचलित हुए।

आभासवादियों का मत है कि अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञान से तादात्म्य-भावापन्न होकर अपने चिदाभास के अविवेक से अन्तर्यामी, साक्षी और जगत्कारण पदवाच्य होता है और बुद्धि से उपहित आत्मा बुद्धि में तादात्म्यभावापन्न होकर अपने चिदाभास के अविवेक से जीव, कर्त्ता, भोक्ता और प्रमाता आदि संज्ञाओं का लाभ करता है। प्रतिबिम्बवादियों का कथन है कि अविद्या में जो चित्प्रति-बिम्ब है, वह जीव शब्द से कहा जाता है और माया में जो चित्प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर शब्दवाच्य है। अवच्छेदवाद की प्रक्रिया यह है कि चैतन्य अज्ञान के आश्रय और विषय-भेद से द्विविध है। अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है और आश्रयभूत चैतन्य जीव है।

श्रुतियों-स्मृतियों में तीनों प्रकार के उदाहरण और वर्णन प्राप्त हैं। गीता में 'ममैवांशो जीव लोके' द्वारा जीव ईश्वर का अंश कहा गया। 'स समानः सन्...' इस श्रुति में अवच्छेदवाद का समर्थन है। 'एक एव तु' वचनों में आभासवाद का निदर्शन है।

गोस्वामी जी ने भी तीनों प्रकार के दृष्टान्त उदाहृत किए हैं :

(१) ईश्वर अंश जीव अविनाशी।[२]

तुलनीयः

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

—गीता, २।२२

यथा त्यजति वै जीर्णं वासो गृह्णातिनूतनम्।
तथा जीर्णं परित्यज्य देही देहं पुनर्नवम्॥

—अध्यात्म रामायण, २।७।१०४

१ द्रष्टव्य : गीता, २।२२ पर शंकरानन्द की व्याख्या।
२ मानस, उत्तर० ११७

(२) केहिं मग प्रबिसति जाति केहिं कहु दरपन में छाँह।
तुलसी त्यों जग जीव गति करी जोव के नांह ॥[१]

(३) सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥[२]

श्रुति-सिद्ध पारमार्थिक अभेद और कल्पित भेद की विभिन्न युक्तियों द्वारा मनःस्थित कराने के लिए वेदान्त में बिम्ब-प्रतिबिम्ब, घटाकाश-मठाकाश, जल-तरंग आदि के बहु दृष्टान्त प्रचलित हैं। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि केवल ववक्षित अंश में ही दृष्टान्त-दार्ष्टान्त का तुल्य भाव उपपन्न है। यहाँ उपाधि द्वारा उपहित में काल्पनिक भेद तथा उपाधि-योग से वैलक्षण्य की प्रतीति तथा परमार्थतः पारमार्थिक अभेद—सर्वोपाधिदोषादिविनिर्मुक्त-भाव—इतना ही अंश मात्र विवक्षित है। जैसे घटाकाश का मठाकाश से भेद और बहुविध कार्यकारण क्षमता घटोपाधि जन्य हैं; जैसे सागर से लहरियों का भेद और उसका लौल्य आदि वायुरूप उपाधिकृत है; जैसे प्रतिबिम्ब में बिम्ब का भेद और कलुष आदि जल-दर्पणादि उपाधि के परिणाम हैं, वैसे ही जीव में परमात्मा से भेद और अनेक अनर्थमूलक कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि दोषों का योग अन्तःकरण की अविद्या उपाधिजन्य ही है। उपाधि के विलयन पर आनन्द-रस-रूप भगवान् ही अवशिष्ट रहता है।

गोस्वामी जी कहते हैं :

ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखरासी ॥[३]

यहाँ यह विचार अभीप्सित है कि गोस्वामी जी के अनुसार जीव-ब्रह्म का अंश-अंशि-भाव किस प्रकार का है। गोस्वामी जी के मत से ब्रह्म निष्कल,[४]

---

१ दोहावली, २४४
२ मानस, उत्तर० १११
३ वही, उत्तर० ११७
४ व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
—मानस, बाल० १४४
अकल अगुन अज अनघ अनामय।
—मानस लंका० ११०

अखण्ड[१] और अनन्त[२] है। उस निरवयय-निष्कल परमात्मा को छेदन-भेदन आदि द्वारा खण्डित करना तो शक्य नहीं। अत मुख्य अंश-अंशि-भाव तो यहाँ उपपन्न नहीं हो सकता। यहाँ औपचारिक अंश-अंशि-भाव की ही कल्पना की जा सकती है। यह कथन कि जैसे शशि का शतांश शुक्र है, वैसे ही परमात्मा का अंश जीव है, समीचीन नहीं, यतः शशि-शुक्र का अंश-अंशि-भाव बहुत बाह्य है। परमात्मा से तो जीव का उद्गम है। अतः दोनों का अंशांशि-भाव अन्तरङ्ग ही होना चाहिए।

जीव परमात्मा का अंश है, इस कथन का यही अभिप्राय है कि जैसे घट उपाधि से घटाकाश महाकाश का, वायु उपाधि से तरंग समुद्र का अंश कहा जाता है, वैसे ही अविद्या अथवा अन्तःकरण उपाधि से जीव परमात्मा का अंश कहा जाता है। उपाधि के क्षोभ से उपहित-अनुपहित का भेद और उसके उपशम से दोनों का अभेद निर्गत होता है। आकाश में वायु-जलादि के क्रम से जब घट उद्भूत होता है, तो घटाकाश-मठाकाश का पार्थक्य दृष्टिगत होता है और घट के विलय होने के अनन्तर घटाकाश-मठाकाश का ऐक्य अनुस्यूत होता है। वायु में जब स्पन्दन होगा तभी समुद्र से तरंग के पार्थक्य की प्रतीति होगी, स्पन्दन विरत होने पर तरंग और सागर की एकता अनुभूत होती है। इन उदाहरणों द्वारा इतना ही कथ्य है कि जैसे घटाकाश, तरंग तथा प्रतिबिम्ब का महाकाश, समुद्र और बिम्ब से स्वभाव-सिद्ध भेद नहीं है; भेद उपाधि-जन्य मात्र है; तथैव जीव स्वभावतः ब्रह्म से अभिन्न है, जो भेद या विलक्षणता प्रतीत होती है, वह उपाधि-जन्य ही है। इसी अभिप्राय से गोस्वामी जी कहते हैं :

मृषा भेद जद्यपि कृत माया।[३]

भास्कर का मत है कि जीव ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न दोनों प्रकार का है। इससे ब्रह्म का नित्य मुक्त रहना और जीव का नित्य बद्ध रहना व्यवस्थित हो सकता है। यदि जीव और ब्रह्म का अत्यन्त अभेद माना जाए, तो स्वयं

---

१ अगुन अखंड अनंत अनादी।
—मानस, बाल० १४४
व्यापक व्याप्य अखंड अनंता।
—मानस, उत्तर० ७२

२ व्यापक अजित अनादि अनंता।
—मानस, सुन्दर० २६
जय भगवंत अनंत अनामय।
—मानस, उत्तर० ७४

३ मानस, उत्तर० ७६

ब्रह्म अपने संसार-बन्धन के लिए संसार को क्यों उत्पन्न करेगा ? और, विशुद्ध ब्रह्म का अशुद्ध होना विरुद्ध भी है।

भास्कर के उपर्युक्त मत का खण्डन और जीव-ब्रह्म के अंशांशि भाव की औपचारिकता का निदर्शन करते हुए श्री विद्यारण्य मुनि कहते हैं[१] कि जीव और ब्रह्म में जातिव्यक्ति भाव गुणगुणि भाव, कार्यकारण भाव या विशिष्टस्वरूपत्व तथा अंशांशि भाव नहीं है, क्योंकि इनके होने में कोई प्रमाण नहीं है और इनके न रहने पर कहीं भी भेद और अभेद नहीं देखे जाते। 'सम्पूर्णभूत इसके पाद हैं' एतदर्थक श्रुति तो अंशांशिभाव—अवयवावयविभाव को बोध नहीं करा रही है, किन्तु ब्रह्म की अनन्तता का प्रतिपादन करने के लिए जीव की केवल अल्पता को कहती है। अन्यथा (ब्रह्म को सावयव मानने में) सावयव ब्रह्म में घटादि के सदृश अवयवों से आरम्भ होने का प्रसंग आ जायगा।

शारीरक भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि जीव ईश्वर का अंश हो सकता है, जैसे अग्नि का विस्फुलिंग। अंश के समान अंश है, क्योंकि निरवयव का मुख्य अंश तो हो नहीं सकता।[२]

अंश से ही अंशी की निष्पत्ति का क्रम लोक में दृष्ट है। अंश या अवयव से अंशी या अवयवी का क्रम न्याय को भी मान्य है। परन्तु, यहाँ क्रम का विपर्यय है। यहाँ पहले अंशी है, तदनन्तर अंश। पहले ईश्वर है, तत्पश्चात् ईश्वर से प्रादुर्भूत होने वाले जीव। मुण्डक का मंत्र है.... 'जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले सहस्रशः स्फुलिंगों का प्रभव होता है, उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से अनेक भाव प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।'[३] पर, उपर्युक्त मंत्र-वर्ण के दृष्टान्त में एक विषमता है। अग्नि के स्फुलिंगों की निरन्तर उत्क्रान्ति से अग्नि का पुञ्ज न्यून या निःशेष भी हो सकता है। परन्तु जीवों के पृथक्-पृथक् भाव-प्राप्ति होने पर भी ईश्वर के स्वरूप में कोई त्रुटि नहीं आती। इसी तथ्य को उद्घाटित करती हुई श्रुति कहती है :

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

---

१ विवरण प्रमेय संग्रह, सूत्र ४, वर्णक २

२ अंश इवांशो न हि निरवयवस्य मुख्योऽंशः सम्भवति।
—शारीरक भाष्य २।३।४३

३ तदेतत्सत्यं तथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः

सान्त पदार्थ में ही त्रुटित्व आदि दोष सम्भव है। अनन्त तत्त्व में उक्त प्रकार के दोष की कल्पना ही अशक्य है।

गोस्वामी जी के मत से ईश्वर और जीव का भेद पारमार्थिक नहीं अपितु मिथ्या और मायाजन्य है। यदि जीव को अखण्ड एकरस ज्ञान की प्राप्ति हो जाए तो जीव और ईश्वर का भेद कैसा ?

ग्यान अखंड एक सीतावर।
माया बस्य जीव सचराचर ॥
जो सबके रह ग्यान एकरस।
ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस ॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया।
बिन हरि जाय न कोटि उपाया ॥[1]

विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद अविद्या द्वारा उपस्थापित नाम-रूप से कल्पित देह आदि उपाधियों द्वारा किया गया है। वह पारमार्थिक नहीं है।[2] कठ भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं कि जो पुरुष उपाधि के स्वभाव और भेददृष्टि रूप अविद्या से मोहित हो कर उस अभिन्नभूत एकरूप ब्रह्म में, 'मैं परमात्मा से भिन्न हूँ और परमात्मा मुझसे भिन्न है' इस प्रकार भिन्नवत् देखता है, वह बार-बार जन्म-मरण-भाव को प्राप्त होता है।[3] आचार्य कहते हैं कि जीव और ब्रह्म

सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ॥

—मुण्डकोपनिषद् २।१।१

१ मानस, उत्तर० ७९

२ द्रष्टव्य:

(क) बृहदारण्यक उप० २।४।६; ३।७।२३; ३।८।११; १।४।१०; ४।४।१९
(ख) छान्दोग्य उप० ६।२।१; ७।२५।२
(ग) मुण्डक उप० २।२।११
(घ) श्वेताश्वतर उप० १।१२
(ङ) गीता ७।१९; १३।२; १३।२७

३ कठ भाष्य २।१।१०

के स्वरूप का भेद व्यवहार का एक तथ्य मात्र है।[१] किन्तु यह भेद पारमार्थिक नहीं है।[२] जीव और ब्रह्म दोनों समानरूप से चेतन हैं[३] और दो चेतन तत्त्वों की सम्भावना निषिद्ध है।[४] आत्म-भेद तो उपाधि के निमित्त से ही है, स्वतः तो एकात्मा ही है, वेदान्तों में अनेकशः जीव और प्राज्ञ के अभेद का प्रतिपादन है[५]।

अभेद के स्वाभाविक होने से तथा भेद के अविद्याकृत होने से विद्या से अविद्या का विधूनन कर जीव अविनाशी परमात्मा के साथ एकता प्राप्त करता है।[६] जैसे सूर्य का प्रकाश और उसका आश्रय सूर्य अत्यन्त भिन्न नहीं है, क्योंकि उन दोनों में तेजस्व समान है; और भेद-व्यपदेश के भाजन दोनों होते हैं, वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिए।[७] भेद और अभेद दोनों का कथन श्रुति समान रूप से नहीं करती, श्रुति अभेद का ही प्रतिपाद्य रूप से निर्देश करती है। भेद का तो उपासना की विवक्षा से, अनुवाद ही करती है।[८]

जीव तत्त्वतः असंसारी है।[९] आत्मा में संसार तो अविद्या के कारण अध्यस्त है।[१०] बृहदारण्यक उपनिषद् में जीव के असंसारित्व का उल्लेख करते हुए कहा गया

---

१ शारीरक भाष्य २।३।४८

२ वही, १।३।३२

३ वही, १।१।३१

४ वही, २।३।३०

५ वही, ३।२।२५

६ वही, ३।२।२६

७ वही, ३।२।२८

८ वही, ३।२।२९

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्एोभिन्न बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो क्षेत्रः क्षेत्रेष्वेवभजोऽयमात्मा॥
आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्।
तथात्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान॥
—याज्ञवल्क्यस्मृति, ३।१४४

९ तेन जगत्कारणीभूतसर्वज्ञसर्वशक्तिपरिपूर्णानिन्दबोधरूपेण ब्रह्मणा सहैकत्वादसंसार्येव जीव इति सिद्धम्।
—सिद्धान्त बिन्दु, पृ० १०६

१० न चात्मनः संसारित्वम्; अविद्याध्यस्तत्वादात्मनि संसारस्य।
—शंकराचार्यः छान्दोग्य ८।१२।१ पर भाष्य।

कि जैसे प्रिया से सम्परिष्वक्त पुरुष एकीभूत की तरह होकर बाह्य-आभ्यन्तर किसी पदार्थ को नहीं जानता, वैसे ही सुषुप्ति-अवस्था में यह जीवात्मा प्राज्ञ परमात्मा से सम्परिष्वक्त हो एकीभूत होता हुआ बाह्य आभ्यन्तर किसी को नहीं जानता।[१]

जैसे स्वप्न बुद्धि का विवर्त्त मात्र होने से मिथ्या है, वैसे ही शोक, मोह, सुख, दुःख और देह की उत्पत्ति ये माया अर्थात् देहादि के अध्यास से आत्मा में प्रतीत होते हैं, वास्तव में है नहीं। इसी तथ्य की विवृति करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

सो माया बस भयउ गोसाईं।
बंध्यो कीर मर्कट की नाईं॥
जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
तब ते जीव भयउ संसारी।
छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥[२]

उत्पत्तिनाशशील अधिभूत, अध्यात्म और अधिदैव रूप देह अज्ञान से आत्मा में कल्पित है और यही देह के स्वामी जीव को संसार में डालता है। भागवत में भी कहा गया है कि देह की हेतुभूत वासना से युक्त कर्मेन्द्रियों से कर्म करने वाला और उन-उन कर्मों के सुख-दुखरूप फलों को भोगने वाला, देहाभिमानी जीव इस संसार में भ्रमण करता है, यह भगवान् की माया है।[३] यहीं इस वचन की भी संगति लग जाती है, जहाँ कहा गया कि 'सशरीर के प्रयाप्रिय का नाश नहीं होता।'

गोस्वामी जी आगे कहते हैं :

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।
छूट न अधिक अरुझाई॥

---

१ तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेव-मेवायंपुरुषःप्राज्ञेन आत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।

२ मानस, उत्तर० ११७

३ कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत्।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम्।
—भागवत ३।३।६

जीव हृदय तम मोह विसेषी।
ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी ॥[1]

गोस्वामी जी जिसे जड़-चेतन की ग्रंथि कहते हैं, वही श्रुतियों में 'हृदय-ग्रंथि' नाम से कथित है।[2]

माया ने जीव को मोहित कर रखा है :

नाथ जीव तव माया मोहा[3]

राम की माया द्वारा बहकाया आकर जीव काल, कर्म और गुणों से संपृक्त हो भव-चक्र में पड़ गया है :

तव विषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे।
भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे ॥[4]

ईश्वर से विमुख जीव, काल, कर्म और स्वभाव के वश हो भटकता-डोलता रहता है :

आकर चारि लच्छ चौरासी।
जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी ॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥[5]

इन्हीं कर्मों के अनुरूप ही जीव की गतियाँ होती हैं :

निज कृत करम भोग सबु भ्राता।[6]

\+ + +

---

१ मानस, उत्तर० ११७

२ (क) भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।
—मुण्डक उपनिषद्, २।२।८

(ख) यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामे येऽस्य हृदिश्रिताः
—कठ उ० २।३।१४ और बृ० उ० ४।४।७

३ मानस, किष्किन्धा० ३

४ वही, उत्तर० १३

५ वही, उत्तर० ४४

६ वही, अयोध्या० ९२

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥[१]

\+ + +

जीव करम बस सुख दुख भागी।[२]

अर्थ यह कि जीव का जैसा कर्म और आचरण होता है, तदनुरूप ही उसकी गति और सुख-दुख का विधान होता है। मनुष्य जो कुछ बोता है, वही काटता है। कृत-प्रणाश और अकृत-अभ्युपागम सम्भव नहीं।

जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जो क्रिया और आचारगत विशिष्ट भेद है, उसकी जीवशास्त्रीय व्याख्या शक्य नहीं। इन विशिष्ट भेदों को अकारण संयोग मानने की अपेक्षा प्रावतन संचित कर्मों का परिणाम मानना नैतिक दृष्टि से अधिक संगत है।

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये त्रिविध कर्म हैं। पूर्व जन्मकृत प्राक्तन कर्म 'संचित' कहे जाते हैं। जीव के देह-धारण-काल में काल संचित कर्मों के जिस अंश के भोग के लिए उसे प्रेरित करता है, उसकी आख्या 'प्रारब्ध' है और वर्त्तमान कर्म ही 'क्रियामाण' हैं।

वर्त्तमान में जो भेद और परिणाम दृष्ट है, उसे संचित-कर्मों का ही प्रभाव-प्रसाद मानना चाहिए। सीता-स्वयम्वर के समय जनकपुर के स्त्री-पुरुष यही कामना और याचना करते हैं कि यदि हमारे कुछ पुण्य संचित हों तो उनके प्रभाव से राम शिव-धनुष को मृणाल-सदृश तोड़ दें :

बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे।
जो कछु पुन्य प्रभाउ हमारे।
तो सिव धनु मृनाल की नाईं।
तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं ॥[३]

प्रारब्ध-वश होने वाले व्यवहारगत भेद का निरूपण करते हुए व्याकरण-भाष्यकार पतंजलि अपने भाष्य में लिखते हैं कि समान परिश्रम से पढ़ने वाले छात्रों में से कोई पण्डित होते हैं और कोई नहीं होते, इसमें हमारा क्या वश है 'समानमीहमानानामधीयानानां केचिदर्थंयुज्यन्ते नाऽपरे तत्र किं कर्त्तुं शक्यतेऽस्माभिः।'

---

१ वही, अयोध्या० २१९
२ वही, अयोध्या० १२
३ वही, बाल० २५५

इस सन्दर्भ में श्री उदनाचार्य का भी अधोलिखित श्लोक द्रष्टव्य है :

'सापेक्षत्वादनादित्वात् वैचित्र्याद् विश्ववृत्तितः ।
प्रत्यात्मनियमाद् भुक्तेरस्ति हेतुर लौकिकः ॥

ईश्वर जीवों के संचित कर्मों के अनुरूप ही सृष्टि बनाता है, अतः उसमें वैषम्य और नैर्घृण्य दोष नहीं है,' यह बात व्यास ने वेदान्त सूत्र में कही है—'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' ।

वेदान्तसूत्र तथा वेदान्त के अन्यान्य ग्रन्थों में कई स्थलों पर व्यवहार-दशा के अनुरोध से जीव को ईश्वर या पर-ब्रह्म से भिन्न ही वर्णित किया गया है। इसी अभिप्राय से गोस्वामी जी ने भी जीव को हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान और अहंकार-अभिमान का आश्रय कहा है :

हरष विषाद ग्यान अग्याना ।
जीव धरम अहमिति अभिमाना ॥[१]

जल की मलिनता और चंचलता के कारण जैसे प्रतिबिम्ब भी चंचल और मलिन ही प्रतीत होता है, वैसे ही व्याकुल अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चिदानन्द तत्त्व अन्तःकरण की व्याकुलता और मलिनता से व्याकुल ही प्रतीत होता है। 'ध्यायतीव लेलायतीव' श्रुति द्वारा इसी तथ्य की की व्यंजना की गई है।

'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिः' इत्यादि श्रुति से सुख, दुःख आ द का आश्रय अन्तःकरण ही कहा गया है और 'असंगो ह्ययंपुरुषः' इस श्रुति से जीव असंग उदासीन कहा गया है। अतः अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से ही सुखादि की व्यवस्था हो सकती है। यदि शंका हो कि जब सुखादि अन्तःकरण के धर्म हैं, तब आत्मा में 'मैं सुखी' इस प्रकार के भोक्तृत्व का अनुभव कैसे होता है ? तो यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे अभीषण रज्जु में भीषण सर्प का तादात्म्यारोप होते ही 'भीषण' ऐसा अभिमान होता है, वैसे ही असंग आत्मा में भोक्तृ-रूप अहंकार का तादात्म्यारोप होने के कारण भोक्तृत्वादि का अभिमान होता है।[२]

जपापुष्प के सान्निध्य से स्फटिक में जैसे अन्य की रक्तता उत्पन्न होती है,

---

१ वही, बाल० ११६

२ अन्तःकरणस्यैव धर्मा तद्धर्मकत्वोक्तेः ।
तद्भेदादेवोक्ता व्यवस्थितिः स्यादिति प्राहुः ॥
—सिद्धान्तकल्पवल्ली, द्वितीय स्तबक, श्लोक ४५

वैसे ही भोक्ता की अन्तःकरण रूप उपाधि के सान्निध्य से शुद्ध आत्मा में भी दूसरे का भोक्तृत्व अध्यस्त होता है। आत्मा का एकत्व होने पर भी उपाधि का भेद होने से सुखादि की व्यवस्था उपपन्न हो सकती है। यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य-भेद से अन्यत्र विरुद्ध धर्म की व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि जैसे मूल और अग्र दो उपाधियों के भेद से वृक्ष में संयोग और उसका अभाव देखने में आता है, वैसे ही प्रकृत में भी हो सकता है।'[१]

'वेदान्त-परिभाषा' में कथित है कि लौह-पिण्ड के दाहक न होने पर भी दाहक अग्नि के तादात्म्याध्यासरूप सम्पर्क से जैसे 'लौह दहन कर रहा है' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही सुखादि-आकार परिणामी अन्तःकरण के साथ तादात्म्यैकाध्यास होने से 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ,' इत्यादि व्यवहार आत्मा में भी मिथ्या प्रतीत होते हैं।[२]

स्थूल-सूक्ष्म-कारण देहों के धर्म और विकार जीव में आरोप मात्र हैं, परमार्थतः नहीं हैं। यदि देहों के धर्मों से जीव विकारी हो जाता तो सुषुप्ति में स्थूल देहों के विकार का जीव को अनुभव करना चाहिए, परन्तु समस्त स्थूल-सूक्ष्म विकारों का सुषुप्ति में व्यतिरेक हो जाता है। श्री सुरेश्वराचार्य 'नैष्कर्म्य सिद्धि' में कहते हैं कि जिस प्रकार चलती हुई नौका पर बैठे मनुष्यों को नदी के तीर पर स्थित वृक्ष आदि भ्रान्ति से चलते हुए जान पड़ते हैं, उसी प्रकार विचार-रहित आत्मा में भोक्तृत्व आदि विकार अहंबुद्धि से उत्पन्न हुई भ्रान्ति से होते हैं।[३]

कठोपनिषद् के 'जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक का चक्षु रूप सूर्य चक्षुसम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार समस्त प्राणियों का एक ही अन्तरात्मा लौकिक दुःखों से लिप्त नहीं होता, अपितु उनसे असंपृक्त रहता है'[४] तथा बृहदा-

---

१ भोक्तृमनः संनिध्यादात्मनि भोक्तृत्वमध्यस्तम्।
तदुपाधिभेदतस्तव्यवस्थितिः साधुरित्यन्ये ॥
—वही, द्वितीय स्तबक, श्लोक ४७

२ अयः पिण्डस्य दग्धृत्वाभावेऽपि दग्धृत्वाश्रयवह्नितादात्म्याध्यासात् तथा अयोदहतीति व्यवहारस्तथा सुखाद्याकारपरिणाम्यन्तः करणैक्याध्यासात् अहं सुखी दुःखीत्यादि व्यवहारः।
—वेदान्त परिभाषा, पृ० ६-७

३ नैष्कर्म्य सिद्धि, द्वितीय अध्याय, श्लोक ६३

४ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

रण्यक के 'मानो ध्यान करता है, मानो चेष्टा करता है'[१] इत्यादि वचनों से जीव की असंगता और निर्लिप्तता सिद्ध है।

भगवान् शंकराचार्य छान्दोग्य-भाष्य में कहते हैं कि आत्मा में अविद्या के कारण होने वाली कल्पना के निमित्त से होने वाले दुःख रज्जु में सर्पादि कल्पना के कारण होने वाले कम्पादि के समान हैं।[२] आत्मतत्त्व में बुद्धि आदि की वृत्तियों के उदय और अस्त से वैचित्र्य को प्राप्त हुई भ्रान्ति से आरोपित सुख-दुःखादि का योग संभाव्य है।[३] बृहदारण्यक के प्रसिद्ध मंत्रपद 'ध्यायतीव लेलायतीव' (४।३।७) पर भाष्य करते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रकाशस्वरूप होने के कारण आत्मा ज्योतिः कहा गया है, उस प्रकाशस्वरूप आत्म-ज्योति से चेतनावान्-सा होकर ही यह देहेन्द्रियसंघात सूर्य के प्रकाश में स्थित घट के समान रहता, इधर-उधर जाता और कर्म करता है। बुद्धि तो स्वच्छ है और आत्मा की समीपवर्त्तिनी है, इसलिए वह आत्म-चैतन्य की प्रतिच्छाया से युक्त हो जाती है, इसी से विवेकियों को भी पहले उसी में आत्माभिमान बुद्धि होती है, उसका भी समीपवर्त्ती होने से बुद्धि के सम्पर्क से मन में चैतन्यावभासता आती है और मन का (इन्द्रियों से) सम्पर्क होने के कारण मन से इन्द्रियों में, फिर इन्द्रियों का शरीर से सम्पर्क होने के कारण उनसे शरीर में चैतन्यावभासता आ जाती है, इस प्रकार परम्परा से आत्मा सम्पूर्ण देहेन्द्रिय-संघात को चैतन्यस्वरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देता है, इसी से सब लोगों को देहेन्द्रियसंघात और उसकी वृत्तियों में अपने-अपने विवेक के अनुसार अनियत आत्माभिमान-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है।

इसी न्याय से गोस्वामी जी ने उभय दृष्टियों से जीव की व्याख्या की है। अविद्याग्रस्त और सोपाधि होने से जीव अभिमानी, जड़ और परिच्छिन्न अतः सुखी-दुखी, ज्ञानी-अज्ञानी आदि रूपों में आख्यात है।[४] पर पारभौतिक उपाधि-विनिर्मुक्त दृष्टि से वह 'चेतन अमल सहज सुखरासी' है। माया के प्रभाव से

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः ॥
—कठ उ० २।२।१२

१ ध्यायतीव लेलायतीव
—बृ० उप० ४।३।७

२ छान्दोग्य भाष्य, ८।१२।१

३ केन भाष्य, ३।१

४ माया ईस न आपु कहुं जान कहिअ सो जीव।
—मानस, अरण्य० १५

जीव में मलिनता और कालुष्य का समावेश वैसे ही हो जाता है जैसे भूमि के सम्पर्क से जल में :

भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी ॥[१]

जीव और ईश्वर का भेद भी मायाकृत और उपाधिजन्य ही है। 'कल्पतरु' में भी कथित है कि उपाधि-योग ही जीव की मलिनता में हेतु है। 'भामती' में भी कहा गया है कि उपाधि-सम्पर्क से ही जीव मलिन है, जब वह उपाधियों का अतिक्रमण करता है तब ब्रह्म से उसका ऐक्य समापन्न होता है।

वेदान्त में जीव की पारिमार्थिक और आविद्यिक दो अवस्थाएँ स्वीकृत हैं। जीव के सच्चिदानन्द निर्विशेष पारमार्थिक स्वरूप का अवलम्बन कर 'तत्त्वमसि' और अपारमार्थिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व और सुखित्व-दुःखित्व आदि धर्मों के अनुरोध से भेद तथा नियन्तृनियम्यभाव आदि सम्बन्ध के प्रतिपादक 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि वचन हैं।

तुलसीदास ने भी जीव के सम्बन्ध में व्यवहार-दशा के अनुरोध से,

हरष विषाद ग्यान अग्याना।
जीव धरम अहमिति अभिमाना ॥[२]

आदि पदों का प्रयोग किया है। उसके पारमार्थिक रूप का अवबोध करावे समय उन्होंने 'तत्त्वमसि' महावाक्य का श्रुतिमतानुरूप अनुवाद ही प्रस्तुत कर दिया :

सो तैं ताहि-तोहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा ॥[३]

'तत्त्वमसि' महावाक्य जीवात्मा और ब्रह्म का अभेद द्योतित करने के लिए ही है। यदि 'त्वम्' पद से शरीरोपाधियुक्त प्रत्यक्ष जीव और 'तत' पद से परोक्ष परब्रह्म का अर्थ ग्रहण किया जाए तो 'तत' और 'त्वम्' में अभेद सम्बन्ध नहीं बन सकता। अतएव यहाँ, 'त्वम्' पद से जीव का अधिष्ठान रूप शुद्ध

हरष बिषाद ग्यान अग्याना।
जीव धरम अहमिति अभिमाना ॥

—मानस, बाल० ११६

१ मानस, किष्किन्धा० १४
२ वही, बाल० ११६
३ वही, उत्तर० १११

चैतन्य और 'तत्' पद से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य ही विवक्षित है। दुःखित्व, अदुःखित्व, परोक्षत्व, अपरोक्षत्व रूप धर्म जिनमें अविवक्षित हैं, उन 'तत्-त्वम्' पदार्थों में अविरोध है। ये दोनों पद अखण्ड अद्वितीय वाक्यार्थ में तात्पर्य होने के कारण जिहासित, परोक्षत्व, सद्वितीयत्व परिच्छिन्नत्व आदि का बोध नहीं करते, क्योंकि वे परस्पर के अनुरोध से परस्पर विरुद्ध अंश का परित्याग कर अविरुद्ध अंश मात्र में व्यवस्थित हैं।[१] अद्वितीयत्व के साथ संसारित्व विरुद्ध है तथा अपरोक्ष आत्मा के साथ परोक्षत्व विरुद्ध है। इस प्रकार दोनों का प्रतिपाद्य अद्वितीयत्व और प्रत्यक्त्व के साथ विरोध रहने से ऐक्यपरक तत्पद और त्वंपद दोनों का बाध स्वभावतः हो जाता है अर्थात् स्वतः विरुद्ध धर्मों की निवृत्ति हो जाती है।[२] 'तत्' और 'त्वम्' पद का मुख्यार्थ क्रमशः परोक्षत्व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य ब्रह्म और अपरोक्ष व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा जीव है। इन दोनों के विरुद्धांश का त्याग द्वारा उभयनिष्ठ शुद्ध चैतन्य का ग्रहण ही दोनों का अभेद है। यह व्याख्या-प्रणाली भाग-त्याग लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा कहलाती है।[३] और यही वेदान्त की व्याख्या है। यहाँ यही निदर्शन इष्ट है कि जीव और ब्रह्म आपाततः भिन्न प्रतीयमान होने पर भी यथार्थतः एक हैं।

मतान्तरवादी इस व्याख्या में एक शंका उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं परोक्षत्व सद्वितीयत्वरूप वाच्यार्थसामान्य है अतः परित्यक्त है और दुःखित्वादि अनूद्यमान त्वंपदार्थ में रहने वाला है एवं विधीयमान तत् पदार्थ के साथ विरुद्ध है। इसलिए दोनों वाच्यार्थों के साथ सम्बन्ध न होने पर भी 'नीलोत्पल' के समान दोनों लक्ष्यार्थों का परस्पर सम्बन्ध ही वाच्यार्थ क्यों नहीं होता?

यह मत अनुपपन्न है। नील उत्पल का व्यभिचारी है अर्थात उत्पल से अतिरिक्त वस्त्र आदि भी नील होता है एवं उत्पल भी नील का व्यभिचारी है यतः सब कमल नीले नहीं होते। प्रकृत में आत्मत्व और ब्रह्मत्व ये दोनों व्यभिचारी नहीं हैं, क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त ब्रह्मत्व और ब्रह्म से अतिरिक्त

---

१ नैष्कर्म्य सिद्धि, ३।७५

२ वही, ३।७६

३ तथाप्यपि वाक्ये तत्वम्पदयोस्तर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्व परित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षणभावः। इयमेव भागलक्षण इत्युच्यते।

—वेदान्तसार

आत्मत्व नहीं रहता। अतः इन दोनों का तादात्म्य नीलोत्पल के तादात्म्य से भिन्न है। अतएव आत्मा और ब्रह्म का नीलोत्पल की तरह भेदाभेद नहीं अपितु भेदासहिष्णु अभेद है।[१]

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि लोक का जो सुख-दुख एवं बन्ध-मोक्ष-रूप अध्यारोप है, उसकी अपेक्षा से ही 'तत्वमसि' इत्यादि श्रुतियाँ आत्म-ज्ञान के उपदेश से केवल अध्यारोप की निवृत्ति के लिए ही हैं।[२] हमने अविज्ञात के विज्ञान रूप फल के लिए श्रवण और मनन में अविकृत जिस 'त्वम्' शब्द वाच्य अर्थ का वर्णन किया है, उसके अपने में आरोपित कर्तृत्व, भोक्तृत्व के अविकृतत्व विज्ञान की निवृत्ति ही इसका फल है। 'तत्वमसि' यह वाक्य विकार रूप मिथ्या देहादि में अविकृत जीवात्म-भाव की निवृत्ति करने वाला ही है।[३] श्री सुरेश्वराचार्य की उक्ति है कि 'तत्वमसि' इत्यादि वेदान्त वाक्यों का स्वतः-सिद्ध आत्म-वस्तु का बोध कराने के अतिरिक्त कोई अर्थ देवता लोग भी नहीं कर सकते :

तत्त्वमस्यादिवाक्यानां स्वतः सिद्धार्थबोधनात्।
अर्थान्तरं न संद्रष्टुं शक्यते त्रिदशैरपि ॥[४]

●

---

१ नीलत्वमुत्पलत्वं च ह्यन्योन्यव्यभिचारिणी।
आत्मब्रह्मत्वयोर्नास्ति व्यभिचारो मनागपि ॥
—बृहदारण्यक वार्तिकसार, १।३५०

२ केनोपनिषद् १।३ पर शा० भाष्य।

३ छान्दोग्य ६।१६।३ पर श० भाष्य।

४ नैष्कर्म्य सिद्धि, १—६८

मोक्ष और मोक्ष-साधन

मोक्ष और मोक्ष-साधन

जीव की परिच्छिन्न मित सत्ता का एक अनन्त अपरिच्छिन्न आध्यात्मिक चेतना में विकास या पर्यवसान ही मोक्ष है। गोस्वामी जी कहते हैं :

सरिता जल जलनिधि महं जाई ।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥[1]

स्पष्ट है कि गोस्वामी जी का उपर्युक्त वचन मुण्डक उपनिषद् के अधो-लिखित मंत्र का अनुवाद है :

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रे स्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परः पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥[2]

मुण्डकोपनिषद् के एक अन्य मंत्र (३।२।९) 'य यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' के अर्थ के अनुरूप ही गोस्वामी जी कहते हैं :

जानत तुमहि तुम्हहि ह्वै जाई ।[3]

एक महत्वपूर्ण उल्लेखनीय तथ्य यह है कि गोस्वामी जी ब्रह्म-ज्ञान और मोक्ष के मध्य कार्यान्तर का वारण करते है। श्रुति-मंत्र 'विमुक्तश्च विमुच्यते'— और गोस्वामी जी का वचन 'जानत तुम्हहि तुम्हहि ह्वै जाई' आशय की दृष्टि से एकरूप हैं। शारीरक भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि 'जैसे खड़ा हो कर आता है' इस दृष्टान्त में खड़े होने और गाने की क्रिया के मध्य कर्त्ता का

---

१ मानस, किष्किन्धा० १४

२ मुण्डक उपनिषद् ३।२।८

तुलनीय :

As the drop becomes the ocean so the soul is deified, losing her name and work, but not her essence.

—Eckhart.

Tell me, I pray you, if a drop of water, thrown into an ocean of some priceless essence, were alive and could speak and declare its condition, would it not cry out with great joy.

—St. Francois De Sales

३ मानस, अयोध्या० १२७

कार्यान्तर नहीं है, तथैव ब्रह्म-ज्ञान और उसके फल में कार्यान्तर का अभाव है।[१]

'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति', 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न विभेति कुतश्चन,' 'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति', 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि', 'तद्धैत त्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे', 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति', 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमिव द्याया: परं पारं तारयसि,' 'तस्मात्सर्वमभवत्', 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः', 'भूय-श्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्यादि शतशः श्रुतियाँ ब्रह्म-ज्ञान के सद्यः अनन्तर ही मोक्ष का विधान करती हुई ब्रह्म-ज्ञान और उसके फल का एक ही काल में वर्णन करती हैं।

प्रत्यगात्मा होने के कारण ब्रह्म का 'इदं' रूप से विधान शक्य नहीं है। वेद्य, वेदितृ और वेदना इत्यादि भेद तो अविद्या कल्पित हैं और ज्ञान के अनन्तर बाधित हो जाने वाले हैं। ज्ञान के अनन्तर तो वेत्ता और वेद्य का भेद ही तिरो-हित हो जाता है। 'जानत तुम्हहि तुम्हहि ह्वै जाई', वचन इसी अर्थ में उपपन्न है।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'[२] इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि ब्रह्म 'विदि' क्रिया का अंग नहीं है। ब्रह्म तो आत्म-कृपा या भगवत्कृपा साध्य ही है। इसीलिए गोस्वामी जी कहते हैं :

'सोइ जानै जेहि देहु जनाई'[३]

मुण्डकोपनिषद् में कथित है कि यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होने योग्य है, न मेधा से और न बहुश्रुत होने से। विद्वान् जिस परमात्मा की इच्छा करता है, उसके द्वारा ही इसकी प्राप्ति शक्य है। उसके प्रति यह आत्मा अपने स्वरूप को व्यक्त कर देता है।

तुलनीय:

To understand much more to know, spiritual reality is to assimilate it with ourselves who know it.

—Gentile: Theory of Mind as Pure Act. P. 10

१ **शारीरक भाष्य १।१।१**

२ **बृहदारण्यक उप० २।४।१३**

३ **मानस अयोध्या० १२७**

तुलनीय:

Grace is necessary to salvation, free will equally so, but

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तेस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥[१]

मुक्ति के परम्परा-प्राप्त चार भेद या प्रकार हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। गोस्वामी जी ने सामीप्य मुक्ति का कोई दृष्टान्त नहीं प्रस्तुत किया। शेष तीन प्रकार की मुक्ति के उल्लेख मानस में प्राप्त हैं।

बालि[२] और विभीषण[३] को सालोक्य की प्राप्ति होती है। शबरी योगाग्नि में शरीर-परित्याग कर सायुज्य लाभ करती है :

तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भई जहं नहिं फिरें।[४]

कुम्भकर्ण[५] और रावण[६] भी इसी परम गति को प्राप्त करते हैं। जटायु

---

grace in order to give salvation, free will in order to receive it, Therefore, we should not attribute part of the good work to grace and part to free will; it is performed in its entirety by the common and inseparable action of both; enti- rely by grace, entirely by free will, but springing from the first in the second.

— St. Bernard

I cannot seek thee except thou teach me, nor find Thee except thou reveal Thyself.

— St. Anselm

१ कठोपनिषद्, ३।२।३

२ राम बालि निज धाम पठावा

—मानस, किष्किन्धा० १२

३ करेउ कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहां संत सब जाहिं॥

—वही, लंका० ११६

४ वही अरण्य० ३६

५ तासु तेज प्रभु बदन समाना।

—वही, लंका० ७१

६ तासु तेज समान प्रभु आनन।

—वही, लंका० १०३

को सारूप्य[१] और सालोक्य[२] दोनों की प्राप्ति होती है।

काक ने गरुड़ को उपदेश देते हुए कहा कि कैवल्य या मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है :

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद'[३]

'विनय पत्रिका' में गोस्वामी जी कहते हैं कि मुक्ति के मार्ग अनेक हैं :

'नाना पथ निरबान नाना विधान बहु भाँति[४]

भारतीय साधना-प्रणाली में कर्म, भक्ति और ज्ञान ये तीन मुक्ति के मार्ग माने गये हैं।

जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है उत्पत्ति, प्राप्ति, विकार और संस्कार इन चार प्रकार के कर्म-फलों में से मुक्ति कोई भी फल नहीं हो सकती, क्योंकि स्वरूपस्थितिरूप मोक्ष नित्यसिद्ध होने के कारण आत्मरूप है। अतः मुक्ति कर्म-साध्य नहीं है। इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं कि वस्तु-सिद्धि तो विचार से ही होती है, करोड़ों कर्मों से कुछ नहीं होता।[५]

अज्ञान से ही उत्पन्न होने के कारण कर्म अज्ञान की निवृत्ति में समर्थ नहीं हो सकते। गोस्वामी जी कहते हैं :

छूटइ मल कि मलहि के धोएँ।
घृत कि पाव कोउ वारि बिलोएँ॥[६]

अतः,

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू॥[७]

भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि सारा कर्म अनित्य फल का ही साधन है।[८] आत्म-ज्ञान में उसी पुरुष का अधिकार है जो कर्म-विषयक साध्य-साधन लक्षण

---

१ गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा।
—वही, अरण्य० ३३

२ अबिरत भगति माँगि बर गीध गयउ हरि धाम।
—वही, अरण्य०, ३३

३ मानस, उत्तर० २०३

४ विनय पत्रिका, १९२

५ विवेक चूड़ामणि, ११

६ मानस, उत्तर० ४९

७ वही, अरण्य० ३६

८ मुण्डक भाष्य, १।२।१२

एवं अनित्य फलों से विरक्त हो गया हो।[१] आत्माभ्यास में तत्पर हुए धीर विद्वानों को सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर भव-बन्धन की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।[२]

गोस्वामी जी कहते हैं कि अविद्या का बन्धन कर्म के साधनों से शिथिल नहीं होता अपितु वह और भी दृढ़ होता है। अतः कर्म-सन्यास ही श्रेष्ठ है :

करहिं मोह बस नर अघ नाना।
स्वारथ रत परलोक नसाना॥
कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता।
सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता॥
अस बिचारि जे परम सयाने।
भजहिं मोहि संसृत दुख जाने॥
त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक।
भजहिं मोहि सुरनर मुनि नायक॥[३]

गोस्वामी जी का निश्चित मत है कि स्वरूप में अवस्थिति होने के बाद कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती :

'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे'[४]

गीता-भाष्य में[५] श्री शङ्करानन्द कहते हैं कि पर और अवर के एकत्व-विज्ञानरूप अग्नि से द्वैत-भ्रम का निर्मूलन कर देने वाले, और 'सब ब्रह्म ही है,' 'मैं ब्रह्म ही हूँ,' ऐसा अनुभव करने वाले जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी की कर्म में प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। जो इसका निषेध करते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि ऐसे ब्रह्मज्ञानी का कर्म अपने लिए है अथवा दूसरे के लिए? यदि कहा जाय कि अपने लिए तो पुनः प्रश्न होता है कि यहाँ के फल के लिए अथवा पारलौकिक फल के लिए? यदि प्रथम पक्ष को अंगीकार करो, तो फिर प्रश्न होता है कि वह कर्म शरीर की रक्षा के लिए है अथवा परिग्रह की रक्षा के लिए या विलास के लिए? पहला पक्ष युक्त नहीं

---

१ कठ भाष्य, १।१।१९.
२ विवेक चूड़ामणि, १०
३ मानस, उत्तर० ४१
४ मानस, उत्तर० ११२
५ गीता शङ्करानन्द भाष्य, ३।१७

है, क्योंकि 'पदार्थ के मिथ्या-सिद्ध होने पर उसमें परिश्रम देखने वाला उसमें यत्न न करे' ('सिद्धेऽन्यथार्थे न यतेत तत्र परिश्रमं तत्र समीक्षमाणः') इस वचन से शरीर की स्थिति के प्रारब्ध के अधीन होने से देह के उद्देश्य से विद्वान् का कर्म करना उपपन्न नहीं होता। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि, 'एवं वै तमात्मानं विदित्वा' आदि श्रुतियों से निःशेषनिवृत्त मिथ्याज्ञानवाले ब्रह्म-ज्ञानियों का पुत्रादि एषणाओं से व्युत्थान सुना जाता है, अतः विरक्त विद्वान् को परिग्रह का अभाव होने से उसकी रक्षा के लिए कर्म करना भी उपपन्न नहीं होता। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि सबको आत्मा जानने वाले, आत्मरत विद्वान की दूसरे में रति नहीं हो सकती, इसलिए विलास के लिए कर्म सम्भव नहीं है। अतः आमुष्मिक फल के लिए ही कर्म हो, यदि ऐसा कहा जाय तो प्रश्न होता है कि यह कर्म स्वर्ग के लिए होगा अथवा मोक्ष के लिए या चित्त-शुद्धि के लिए? इसमें प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'पर्याप्तकाम कृतात्म की सब कामनाएँ वहीं लीन हो जाती हैं' ('प्रयाप्तकामस्य कृतात्मनुस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः') यह श्रुति विद्वान् की सब कामनाओं का प्रविलय कहती है। इसलिए विद्वान् को स्वर्ग की कामना नहीं हो सकती, इसलिए स्वर्ग के लिए कर्म करना उपपन्न नहीं है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'न कर्मणा न प्रजया' इस श्रुति से कर्म मोक्ष के साधन हैं, इसका निषेध किया गया है। तीसरे पक्ष में क्या शरीर की शुद्धि के लिए या चित्त की शुद्धि के लिए अथवा आत्मा की शुद्धि के लिए कर्म कर्त्तव्य है? प्रथम पक्ष तो युक्त है नहीं, क्योंकि 'कलेवरं मूत्रपुरीषभाजनम्' और प्रत्यक्षतः भी अस्थि-मांस-युक्त शरीर की कर्म से शुद्धि नहीं हो सकती। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'यतयः शुद्धसत्वा' इस श्रुति से शुद्ध-चित्त होने से ही सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होने से विद्वान् को चित्त-शुद्धि की अपेक्षा नहीं रहती। क्योंकि आत्मा, निरवयव होने से अविषय है, अतः उसकी कर्म से शुद्धि होती है, ऐसी कल्पना युक्त नहीं है। श्रुति भी है 'अस्वाविरं शुद्धमपापविद्धम्।' एक दूसरी श्रुति है—'स्वत एव सतः शुद्धिर्न सता मेव केनचित्'—सत् की शुद्धि स्वतः ही होती है, किसी असत् से नहीं। अतः आत्मा स्वतः ही शुद्ध है। अतः स्वरूप को पहचानने वाले अपरोक्ष ज्ञानी की कर्म में प्रवृत्ति असम्भव है, क्योंकि उसका अनात्माहंभाव तो निःशेष निवृत्त हो गया है।

शारीरक भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि सब दुःखों से विनिर्मुक्त एक चैतन्य स्वरूप मैं हूँ, यह आत्मानुभव है और ऐसे आत्मा का अनुभव करने वाले के लिए कुछ अन्य कृत्य अवशिष्ट नहीं रहता। इसी प्रकार 'किंप्रजया करिष्यामो

येषां नो यमात्मायं लोकः' इत्यादि वचनों से श्रुति आत्मवेत्ता के कर्त्तव्य का अभाव दिखलाती है।[१]

गीता भाष्य में श्री शंकराचार्य कहते हैं कि यह जो लौकिक और वैदिक व्यवहार हैं, वह सब अविद्या का कार्य है, अतः जिसको विवेक ज्ञान प्राप्त हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ के लिये अविद्या की निवृत्ति के साथ ही साथ यह व्यवहार भी निवृत्त हो जाता है।[२] अतः अज्ञानियों के लिए ही कर्म-योग है ज्ञानियों के लिए नहीं। जो गुणों द्वारा विचलित नहीं किए जा सकते, उन ज्ञानियों में स्वतः क्रिया का अभाव होने से उनके लिए कर्मयोग सम्भव नहीं है।[३]

गोस्वामी जी कहते हैं कि कर्म से कर्म-जन्य कलुष संस्कार नहीं छूट सकते। आभ्यान्तरिक मल तो प्रेम-भक्ति के जल से ही धुल सकता है :

छूटइ मल कि मलहि के धोएं।
घृत कि पाव कोउ वारि बिलोएं॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥[४]

भक्ति के स्फुलिंग सब कर्मों का परिपाक वैसे ही कर देते हैं, जैसे जठराग्नि भोजन का :

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अविद्या नासा॥
भजन करिअ तृपित हित लागी।
जिमि सो अचन पचवै जठरागी॥[५]

यह भक्ति परमार्थरूपा[६] और निरपेक्ष[७] है। सारे साधनों का पर्यवसान

---

१ शारीरक भाष्य ३।४।२
२ गीता भाष्य २।६८
३ वही, ३।५
४ मानस, उत्तर० ४९
५ वही, उत्तर० २०२
६ सखा परम परमारथ एहू।
मन क्रम बचन रामपद नेहू।,
—मानस अयोध्या० ९३७
७ सो सुतंत्र अवलम्ब न आना।
—मानस, अरण्य० १६,

भक्ति में ही होता है।[१] ज्ञान और विज्ञान इसी भक्ति के अधीन हैं।[२]

सारे श्रुति-सिद्धान्त का निर्णीतार्थ यही है कि भक्ति के बिना सुख की प्राप्ति असम्भव है :

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥[३]

इस श्रुति-सिद्धान्त को ब्रह्म-विचार-विशारद साधकों की अनुभूति का समर्थन भी प्राप्त है :

सिव अज सुक सनकादि नारद।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक येहा।
करिअ राम पद पंकज नेहा॥[४]

---

१ बिरति बिबेक जोग बिग्याना।
जप तप मख समदम ब्रत नाना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा।
तेहि बिनु कोउ न पावउ छेमा॥
—उत्तर० ९५

तव पद पंकज प्रीति निरंतर।
सब साधन कर फल यह सुन्दर॥
—उत्तर० ४९

जँह लगि साधन बेद बखानी।
सब कर फल हरि भगति भवानी॥
—उत्तर० १२६

२ तेहि अधीन ग्यान बिग्याना।
—अरण्य० १६

३ मानस, उत्तर० १२२
४ वही, उत्तर० १२२

सारी विपत्तियों और अनर्थों का मूल है, प्रभु के भजन की विस्मृति :

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई ।
जब तव सुमिरन भजन न होई ॥[१]

भगवान से विमुख होकर, भव-बन्धन से मुक्त होने की कल्पना अशक्य है :

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी ।
कवन सकइ भवबन्धन छोरी ॥[२]

इसीलिए गोस्वामी जी अत्यन्त आग्रह पूर्वक कहते हैं :

रामचन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निरवान ।
ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिन पूँछ विषान ॥

राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ ।
सकल गिरन्ह दव लाइए बिनु रबि राति न जाइ ॥

ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा ।
मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा ॥[३]

भक्ति के बिना संसार-संतरण सम्भव नहीं, यह एक अव्यभिचारी सिद्धान्त है।

कमठ पीठि जामहिं बरु बारा ।
बंध्यासुत बरु काहुहि मारा ॥
फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला ।
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥

---

१ वही, सुन्दर० ३२
२ वही, बाल० २००
३ वही, उत्तर० ७८-७९

तृष्णा जाइ बरु मृगजल पाना ।।
बरु जामहिं सस सीस विषाना ।।
अंधकार बरु रबिहि नसावै ।
राम विमुख न जीव सुख पावै ।।
हिम तें अनल प्रगट बरु होई ।
बिमुख राम सुख पाव न कोई ।।

बारि मथे घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल ।।[१]

तत्त्वतः राम के चरण ही संसृति-सागर संतरण के लिए एकमात्र नौका हैं :

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्बोधेस्तितीर्षतां ।[२]

भक्ति जीव के माया-पाश का उच्छेद कर देती है ।[३] भक्ति राम की प्रिया है और माया नर्त्तकी मात्र ।[४] माया भक्ति से अत्यन्त त्रस्त रहती है । वह उस

तुलनीय :
हरिसेवाविहीनो यः पशुर्योनिःपशुः ।

—भविष्य पुराण २।१।५

१ मानस, उत्तर० १२२
२ वही, बाल० १
३ देखी माया सब विधि गाढ़ी ।
अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ।।
देखा जीव नचावइ जाही ।
देखी भगति जो छोरइ ताही ।।

—बाल० २०२

४ पुनि रघुबीरहि भगति पियारी ।
माया खलु नर्तकी बिचारी ।।

—उत्तर० ११६

पर शासन नहीं कर सकती।[१]

गोस्वामी जी यहाँ एक बड़ा सुन्दर तर्क उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान-विज्ञान आदि पुरुष हैं और माया रमणी। यह रमणी कभी भी पुरुष को पथ-भ्रष्ट कर सकती है। पर माया और भक्ति चूँकि दोनों ही नारी हैं और नारी, नारी के प्रति आसक्त नहीं हो सकती। अतः भक्त को माया से कोई भय नहीं हो सकता।[२] इसीलिए विज्ञानी मुनि भक्ति की ही याचना करते हैं :

अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी।
जाचहि भगति सकल सुख मानी॥[३]

विमुक्त-जन भी इसी भक्ति के आकांक्षी होते हैं।[४] शिव,[५] सनकादि,[६]

---

१ भगतिहि सानुकूल रघुराया।
तातें तेहि डरपति अति माया॥
—उत्तर० ११६

२ (क) ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना।
ये सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
—उत्तर० ११५

(ख) माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि बर्ग, जानें सब कोऊ॥
—उत्तर० ११६

(ग) मोह न नारि नारि के रूपा।
पन्नगारि यह नीति अनूपा॥
—उत्तर० ११६

३ मानस, उत्तर० ११६

४ सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।
लहहिं भगति गति संपति नई॥
—उत्तर० १५

५ बार बार बर मागौं, हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी, भगति सदा सतसंग॥
—उत्तर० १४ क

६ परमानंद कृपायतन, मनपर पूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम॥
—उत्तर० १४

भुशुण्डि[१] सभी राम से भक्ति की ही याचना करते हैं। गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवद्भक्ति के बिना मोक्ष उसी प्रकार असम्भव है, जैसे स्थलरूप आधार के बिना जल की स्थिति :

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।
कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई।[२]

और यह मुक्ति भक्तों को अनायास ही अनिच्छित रूप से सुलभ हो जाती है :

राम भजत सोइ मुकुति गोसाई।
अनइच्छित आवइ बरिआई॥[३]

यों, यह सच है कि जो चतुर भक्त होते हैं, उनके निकट मुक्ति का भी कोई मान नहीं है :

अस विचारि हरि भगत सयाने।
मुक्ति निरादर भगति लोभाने॥[४]

भरत की अधोलिखित उक्ति तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है :

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरवानि।
जनम-जनम रति राम पद यह वरदान न आन॥[५]

ब्रह्म-लीन मुनि समाधि के सहज-सुख का परित्याग कर राम-गुण गान में आसक्त रहते हैं :

---

१ अबिरल भक्ति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित, कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम॥
—उत्तर० ८४

२ मानस, उत्तर० ११९
३ वही, उत्तर० २०३
४ वही, उत्तर० ११९
५ वही, अयोध्या० १३०

सनकादिक नारदहिं सराहहिं।
जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि अहहिं॥
सुनि गुन गान समाधि बिसारी।
सादर सुनहिं परम अधिकारी॥[१]

वशिष्ठ राम से वर की याचना करते हुए कहते हैं :

जनम-जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु।[२]

राम यज्ञ, तप, दान आदि से उतने प्रीत नहीं होते जितना कि निष्केवल प्रेम से।[३] उन्हें भक्ति ही अत्यन्त प्रिय है[४] और भक्ति का ही एकमात्र नाता मानते हैं।[५]

स्वयं भगवान की उक्ति है :

भगति हीन बिरंचि किन होई।
सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी।
मोहि प्रान प्रिय असि मन बानी॥[६]

---

१ वही, उत्तर० ६४

२ वही, उत्तर० ७२

३ उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
—उत्तर० ११

४ (क) पुनि रघुबीरहि भगति पियारी।
—उत्तर० ११६

(ख) रामहि केवल प्रेम पियारा।
जानि लेउ जे जाननि हारा॥
—उत्तर० १३७

(ग) मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुन काग।
—उत्तर० ८५

५ कह रघुपति सुनु भामिनि बाता।
मानौं एक भगति कर नाता॥
—अरण्य० ३५

६ मानस, उत्तर० ८६

भगवान् के लिए सेवक अत्यन्त प्रिय हैं[१]—प्राण की ही नाईं।[२]
गोस्वामी जी तो यहाँ तक कह देते हैं :

राम ते अधिक राम कर दासा।[३]

इस मनुष्य-देह की सार्थकता भी भक्ति-साधन में ही है।

जिन्ह हरि कथा सुनि नहिं काना।
श्रवन रंध्र अहि भवन समाना॥
नयनन्हिं संत दरस नहिं देखा।
लोचन मोर पंख सम लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि समतूला।
जे न नमत हरि गुरु पद मूला॥
जिन्ह हरि भगत हृदय नहिं आनी।
जीवत सव समान तेइ प्राणी॥
जो नहिं करइ राम गुन गाना।
जीह सो दादुर जीह समाना॥
कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती।
सुनि हर चरित जो न हरषाती॥[४]

तुलनीयः

(क) अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
—गीता, ९।३०

(ख) नास्ति तेषु जाति विद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।
—नारदभक्तिसूत्र, ७२

१ रामहिं सेवक परम पिआरा।
—अयोध्या० २१९

२ (क) पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
—उत्तर० ८६

(ख) सत्य कहौं खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
—वही उत्तर० ८७

३ मानस, उत्तर० १२०

४ वही, बाल० १३३

गोस्वामी जी कहते हैं कि इससे बढ़ कर कोई हानि अकल्पनीय है कि मनुष्य-शरीर पा कर भी भगवान् की भक्ति न की जाए :

हानि कि जग येहि सम कछु भाई।
भजिअ न रामहिं नर तनु पाई॥[१]

भागवत में भक्ति के नौ साधनों का उपदेश है।[२] गोस्वामी जी ने भी नवधा भक्ति की चर्चा की है। किन्तु उनकी तालिका भागवत् की तालिका से भिन्न है। शबरी को उपदेश देते हुए राम कहते हैं :

नवधा भगति कहऊँ तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

तुलनीय :

बिले बतोरुक्रम विक्रमान् ये न शृण्वतःकर्णपुटे नरस्य।
जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगायगाथाः॥
भारः परं पट्ट किरीटजुष्टोऽप्युत्तमाङ्ग न नमेन्मुकुन्दम्।
शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकंकणौ वा॥
बर्हायिते ते नयने नराणां लिंगानि विष्णोर्न निरीक्षतोये।
पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणिनानुव्रजतो हरेर्यौ॥
जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु।
श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुल्याः श्वसञ्छवो न वेद गन्धम्॥
तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद गृह्याणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषुहर्षः॥
—भागवत २।३।२०।२४

१ मानस, उत्तर० १९२

२ श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।
—भागवत, ७।५।२३—२४

गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा।
पंचम भजनु सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सीलु बिरति बहुकर्मा।
निरत निरंतर सज्जन धर्मा॥
सातवं सम मोहि मय जग देखा।
मोतें संत अधिक करि लेखा॥
आठवं जथा लाभ सन्तोषा।
सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सन छल हीना।
मम भरोस हिय हरष न दीना॥
नव महं एकउ जिन्ह के होई।
नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोई अतिसय प्रिय भामिनि मोरे।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे॥[1]

गोस्वामी जी का उपर्युक्त निरूपण 'अध्यात्मरामायण' में निर्दिष्ट 'नवविधा भक्तिः' से अत्यन्त सादृश्य ही नहीं रखता, उसका अनुवाद-सा लगता है।[2] पदावली-भेद से इसी तालिका को गोस्वामी जी ने पुनः उद्धृत किया है।

---

१ मानस, अरण्य०, ३५—३६

२ तस्माद् भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम्।
सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मदवचसां चतुर्थं साधनं भवेत्॥
आचार्योपासनं मन्त्रं मद्बुद्धयऽमायया सदा।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च।
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितं।
ममम त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादि सहितं तथा॥

लक्ष्मण के प्रति भक्ति-योग का उपदेश करते हुए भगवान् कहते हैं :

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलहि जो संत होहिं अनुकूला॥
भगति के साधन कहउँ बखानी।
सुगम पंथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरण अति प्रीती।
निज करम निरत स्रुति रीती॥
यहि कर फलु मनु बिषय बिरागा।
तब मम चरन उपज अनुरागा॥
स्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं।
मम लीला रति अति मन माहीं॥
सन्त चरन पंकज अति प्रेमा।
मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा।
सब मोहिं कहँ जानइ दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा।
गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके।
तात निरंतर बस मैं ताके॥

बचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निहकाम।[१]
तिन्हके हृदय कमल महुँ करइउँ सदा बिस्राम॥

भगवान् के वास-योग्य चौदह भवनों के निर्देश द्वारा वाल्मीकि ने तत्त्वतः भक्ति के साधनों की महत्व पूर्ण तालिका प्रस्तुत की है। मानस में भक्ति-साधनों की यह तीसरी तालिका इस प्रकार है :

अष्टमं नवमं तत्वविचारो मम भामिनि।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा॥

—अध्यात्म रामायण, अरण्य १०।२२-२७

१ मानस, अरण्य० १६

कथा श्रवणानुराग[१], रूपासक्ति[२], यशकीर्त्तनासक्ति[३], पूजासक्ति[४], मंत्रजाप[५],

१ सुनहु राम अब कहऊँ निकेता।
जहाँ बसहु सिय लखन समेता॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना।
कथा तुम्हारि सुभगसरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।
तिन्ह के हिय तुम कहुं गृह रूरे॥
—अयोध्या० १२८

२ लोचन चातक जिन्ह करि राखे।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर बारी।
रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह के हृदय सदन सुखदायक।
बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥
—अयोध्या० १२८

३ जस तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ बसहु राम हिय तासु॥
—अयोध्या० १२८

४ प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा।
सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहिं निवेदित भोजन करहीं।
प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
कर नित करहिं राम पद पूजा।
राम भरोस हृदयं नहिं दूजा॥
राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
—अयोध्या० १२९

५ मंत्र राजु नित जपहिं तुम्हारा।
पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।
सबकर मांगहिं एक फलु रामचरन रति होउ।
तिन्हकें मन मंदिर बसहु सियरघुनन्दन दोउ॥
—अयोध्या० १२९

चित्त की निर्दुष्ट स्थिति[१], लोकनिरपेक्ष-भाव-संवलित अनन्य भाव और मन की द्वन्द्वातीत स्थिति के साथ समष्टि के प्रति कल्याण-कामना[२], सबके प्रति वासना-विहीन तथा व्यापक प्रेम[३], सर्वस्व भाव[४], लोक-संग्रह-वृत्ति[५], स्वदोषा-

---

१ काम कोह मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया।
तिन्ह के हृदय बसहु रघुराया॥
—अयोध्या० १३०

२ सबके प्रिय सबके हितकारी।
दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।
जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं।
राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥
—अयोध्या० १३०

३ जननी सम जानहिं परनारी।
धनु पराव बिष तें बिष भारी।
जे हरषहिं पर संपति देखी।
दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहिं राम तुम प्रान पिआरे।
तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे॥
—अयोध्या० १३०

४ स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम तात।
मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥
—अयोध्या० १३०

५ अवगुन तजि सबके गुन गहहीं।
बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥
नीत निपुन जिन्ह कइ जग लीका।
घर तुम्हार तिन्हकर मनु नीका॥
—अयोध्या० १३१

नुभूति[1], वैराग्य-वृत्ति[2], तन्मयता[3] और निर्व्याज प्रेमासक्ति[4]।

नाम-स्मरण भक्ति के उदय के लिए एक अनिवार्य और महत्वपूर्ण भूमिका है। अपने प्रबन्ध के प्रारम्भ में ही बड़ी सहृदयता और कुशलता से अनेक युक्तियों का आश्रय लेकर कवि ने राम-नाम की महिमा प्रतिपादित की है। यह पूरा का पूरा संदर्भ ही बहुत रस-पेशल और मर्म-मधुर है। कवि की उक्ति है :

बरषा ऋतु रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥[5]

कवि के लिए 'राम' नाम के दोनों अक्षर राम और लक्ष्मण के सदृश ही प्रिय हैं :

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके।
राम लषन सम प्रिय तुलसी के॥[6]

---

१ : गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥
राम भगति प्रिय लागहिं जेही।
तेहि उर बसहु सहित बैदेही।
—अयोध्या० १३१

२ जाति पाँति धनु धरम बड़ाई।
प्रिय परिवार सदनु सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई।
तेहि के हृदय बसहु रघुराई॥
—अयोध्या० १३१

३ सरगु नरकु अपबरगु समाना।
जहं तहं देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा।
राम करहु तेहि के उर डेरा॥
—अयोध्या० १३१

४ जाहि न चाहिअ कबहुं कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥
—अयोध्या० १३१

५ मानस, बाल० १९

६ वही, बाल० २०

जिनकी सारी वासनाएँ क्षार हो गई हैं, वे भी अत्यन्त आसक्ति पूर्वक नाम-जप करते हैं :

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन
नाम सुप्रेम पियूष हृद तिन्हहुँ किए मन मीन ।।[१]

इस नाम-स्मरण का एक वैशिष्ट्य यह है कि रूप-बोध के बिना भी यह भावक के चित्त में स्नेह का संचरण करने में समर्थ होता है :

देखिअहिं रूप नाम आधीना ।
रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना ।।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें ।
करतल गत न परहिं पहिचानें ।।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें ।
आवत हृदय सनेह बिसेषें ।।[२]

राम-नाम की महिमा तो इतनी विशिष्ट है कि स्वयं राम भी उसके रहस्य और गुण का पूरा-पूरा वर्णन नहीं कर सकते :

कहऊँ कहाँ लगि नाम बड़ाई ।
राम न सकहिं राम गुन गाई ।।[३]

कलि-काल में तो नाम-स्मरण ही साधकों के लिए एक मात्र अवलम्ब है :

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू ।
राम नाम अवलंबन एकू ।।[४]

मुक्ति के लिए शिव काशी में इसी मंत्र की दीक्षा देते हैं :

महामंत्र जोइ जपत महेसू ।
कासी मुकुति हेतु उपदेसू ।।[५]

नाम की महिमा शास्त्रों में कीर्त्तित है । वेदों तक में उसका उल्लेख मिल जाएगा, यथा :

---

१ वही, बाल० २१
२ वही, बाल० २१
३ वही, बाल० २६
४ वही, बाल० १७
५ वही, बाल० १९

(क) गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम ।[१]
(ख) नामानि ते शतक्रतो विश्वमीगींमिरीमहे ।[२]
(ग) मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे ।[३]

गीता में भगवान् ने तो जप-यज्ञ को अपना स्वरूप ही बतला कर उसकी विशिष्टता प्रतिपादित कर दी है :

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'[४]

छान्दोग्य-भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि ब्रह्म के नाम के अक्षरों का अमृत्वादि धर्मवान् होना परम सौभाग्य है, फिर नाम की तो कथा ही क्या ? वहीं अन्यत्र कथित है कि ओ३म् परमात्मा का प्रियतम नाम है। उसका उच्चारण किए जाने पर वह उसी प्रकार प्रसन्न होता है, जिस प्रकार साधारण जन अपना प्रिय नाम उच्चारण किए जाने पर प्रसन्न होते हैं। इस प्रतीक रूप से वह परमात्मा की उपासना का उत्तम साधन है—ऐसा सम्पूर्ण वेदान्त-ग्रन्थों में विदित है।

भक्ति के साधना-पथ में सन्त-कृपा सत्संग और गुरु-कृपा का भी अत्यधिक महत्व है। मानस में मंगलाचरण, सुर-वन्दना और गुरु वन्दना के सद्यः अनन्तर ही कवि ने संतों की वन्दना की है। गोस्वामी जी कहते हैं कि सन्तों की महिमा इतनी व्यापक है कि 'विधि हरि हर' तक उसका गान करने में संकोच का अनुभव करते हैं :

बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी।
कहत साधु महिमा सकुचानी ॥[५]

संतों का लक्षण कवि ने स्थान-स्थान पर निरूपित किया है :

बंदउ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ ॥[६]

---

१ ऋग्वेद २।३३।३
२ वही, ३।३७।३
३ वही, ८।११।५
४ गीता १०।२५
५ मानस, बाल० ३
६ वही, बाल० ३

और भी,

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहं।[१]

संतों की अनुकूलता द्वारा ही भक्ति की प्रतिपत्ति सम्भव है, अतः सत्संग की बड़ी महिमा है :

सतसंगति मुद मंगल मूला।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥[२]

यह सत्संग भी राम-कृपा द्वारा ही सुलभ है :

बिनु सतसंग बिबेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥[३]

भक्ति के क्षेत्र में गुरु-कृपा का भी बहुत महत्व है। गुरु के उपदेश द्वारा ही शिष्य के मानस का मोहान्धकार विदीर्ण होता है। गुरु की वन्दना करते हुए कवि कहता है :

बंदउं गुरुपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर॥[४]

सद् गुरु ही समस्त संशय और भ्रम का उच्छेद कर पाने में समर्थ होता है :

भूमि जीव संकुल रहे गए सरद रितु पाइ।
सदगुरु मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ॥[५]

गुरु की सहायता के बिना किसी के लिए भी चाहे वह ब्रह्म अथवा शंकर के सदृश ही क्यों न हो, संसार संतरण अशक्य है :

गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई।
जो विरंचि संकर सम होई॥[६]

तत्वतः श्रुति का अर्थ किसी सिद्ध आचार्य की कृपा के बिना अवगम्य नहीं होता। श्रुति हमें प्रकाश देती है और गुरु हमें दृष्टि देता है। छान्दोग्य भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि 'ब्रह्म केवल शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश द्वारा

१ वही, बाल० ३
२ वही, बाल० ३
३ वही, बाल० ३
४ वही, बाल० १
५ वही, किष्किन्धा० १७
६ वही, उत्तर० ९३

अवगम्य है।'[१] शंकराचार्य के भाष्यों में 'शास्त्राचार्य' पद समस्त रूप से अनेकशः व्यवहृत हुआ है। इस समस्तपद की अनेकशः आवृत्ति का यही आशय है कि श्रुति में जो अध्यात्म-तत्त्व निबद्ध है, वह गुरु-कृपा से ही ज्ञेय है। आचार्य और अन्तेवासी के जीवित सम्पर्क से ही अन्तेवासी के अज्ञान की ग्रन्थि का उच्छेद हो सकता है।

शिव के प्रति निश्छल भक्ति भी राम-भक्ति की एक स्वतंत्र भूमिका है। राम और शिव में से एक के प्रति निष्ठा और दूसरे के प्रति द्रोह गोस्वामी जी को सह्य नहीं :

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ वास॥[२]

स्वतः राम रामेश्वर में शिव-लिंग की स्थापना करते हुए कहते हैं :

संकर बिमुख भगति चह मोरी।
सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥[३]

एक अत्यन्त गुह्य रहस्य उद्घाटित करते हुए अयोध्या-निवासियों से राम कहते हैं :

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥[४]

इस सन्दर्भ में संस्कृत के एक कवि की उक्ति अनायास याद आ जाती है :

उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययतो भिन्नवद्भाति।
कलयतु कश्चन मूढ़ो हरिहर भेदं विना शास्त्रम्॥

हरि और हर दोनों ही 'हृ' धातु से निष्पन्न हैं, अतः प्रकृति दोनों में एक है, प्रत्यय मात्र का भेद है। अतः दोनों में भेद की कल्पना शास्त्रानभिज्ञ मूढ़-सिद्ध ही है। अर्थ यह कि प्रकृति अर्थात् मूलतत्त्व की दृष्टि से दोनों में अभेद है। भेद केवल प्रत्यय-प्रतीति का है। यह भेद शास्त्रकृत नहीं है।

भक्ति और उसके साधनों की इस विस्तृत चर्चा के अनन्तर ज्ञान के स्वरूपादि

---

१ छान्दोग्य भाष्य ६।१।२
२ मानस, लंका० २
३ वही, लंका० २
४ वही, उत्तर० ४५

का विवेचन यहाँ अभीप्सित है। ज्ञान मोक्ष प्रद है, यह गोस्वामी जी स्पष्ट कहते हैं :

ज्ञान मोच्छ प्रद वेद बखाना।[१]

'नान्यः पन्था विद्यतेयनाय'[२], 'य एताद्विदुरमृतास्ते भवन्ति,[३] 'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्या ग्रन्थि विकिरतीह सोम्य',[४] 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति[५]', 'तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथाः,'[६] 'विद्ययामृत-मश्नुते'[७], 'तमेव विद्वानमृत इह भवति'[८] आदि श्रुतियों में स्पष्ट ही ज्ञान को मोक्षप्रदता उल्लिखित है।

आत्म-ज्ञान में मुक्ति की अनिवार्यता और आत्म-ज्ञान के बिना मुक्ति की असम्भावना की बात शंकराचार्य ने पदे-पदे कही है। 'विवेक चूड़ामणि' में वे कहते हैं कि भले की कोई शास्त्रों की व्याख्या करे, देवताओं का यजन करे, नाना शुभ कर्मों का अनुष्ठान करे, तथापि जब तक ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध नहीं होता, तब तक सौ ब्रह्माओं के बीत जाने पर भी मुक्ति नहीं हो सकती।[९] तैत्तिरीय भाष्य में आचार्य कहते हैं कि आत्म-विद्या से ही परम श्रेय की प्राप्ति होती है।[१०] छान्दोग्य भाष्य में कथित है कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है—यही सम्पूर्ण उपनिषदों का सिद्धान्त है।[११]

गोस्वामी जी कहते हैं कि ज्ञान समस्त संशयों का उच्छेद कर देने वाला है :

भएउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं।
ज्ञान उदय जिमि संसय नाहीं॥[१२]

---

१ वही, अरण्य० २०
२ श्वेताश्वर उप० ६।१५
३ बृहदारण्यक उप० ४।४।१४।
४ मुण्डक उप० २।१।१०
५ वही, ३।२।९
६ प्रश्न उप० ६।६
७ ईश उप०, ११
८ नृसिंह पूर्व उप० १।६
९ विवेक चूड़ामणि, ६
१० तैतिरीय भाष्य १।११
११ छान्दोग्य भाष्य २।२३।१
१२ मानस, लंका० ४७

गोस्वामी जी ज्ञान और विज्ञान में विशिष्ट भेद मानते हैं। अधोलिखित उदाहरणों से यह तथ्य सिद्ध हो जाता है :

(क) जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरि जाइ॥
तब बिग्यान रूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिआ भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥[१]

(ख) ग्यानवंत कोटिक महं कोऊ।
जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्त्र महुँ सब सुख खानी।
दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी॥[२]

(ग) जोगी सूर सुतापस ग्यानी।
धर्म निरत पंडित बिग्यानी॥[३]

(घ) तिन्ह महं द्विज द्विज महँ स्रुतिधारी।
तिन्ह महं निगम धर्म अनुसारी॥[४]

श्री शंकराचार्य ने ज्ञान और विज्ञान का भेद निरूपित करते हुए लिखा है– 'ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्च आत्मादीनां अवबोधः, विज्ञानं विशेषतः तदनुभवः'।[५]

पर उपर्युक्त परिभाषा की सहायता से गीता के निम्नलिखित श्लोक की संगति लगाने में कठिनाई हो सकती है।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिद वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥[६]

यदि यह माना जाए कि भिन्न-भिन्न पदार्थों में एक ही तत्त्व को अनुगत और अनुस्यूत देखना ज्ञान और एक ही तत्त्व से विभिन्न पदार्थों का प्रसार मानना विज्ञान है, तो सारे वचनों में संवाद स्थापित हो सकेगा। उपर्युक्त मंतव्य की पुष्टि में एकाधिक उद्धरण और भी दिए जा सकते हैं :

---

१ वही, उत्तर० ११७
२ वही, उत्तर० ५४
३ वही, उत्तर० १२४
४ वही, उत्तर० ८६
५ गीता भाष्य ३।४१
६ गीता, ७।२

(क) सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥[१]

(ख) नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥
एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्तिलयान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनां ॥[२]

विज्ञान दीपक के रूपक में कवि ने ज्ञान-पंथ की अपाय-संकुलता का बड़ा ही मनोज्ञ विवरण दिया है। प्रथमतः तो इस ज्ञान-दीपक का प्रदीप्त होना ही दुष्कर है। यदि घुणाक्षर न्याय से ऐसा हो भी जाए तो उसके क्षेम में अनेक प्रत्यूह हैं।[३] गोस्वामी जी कहते हैं कि ज्योंही ज्ञानदीप से भास्वर उर-गृह में अधिष्ठित विज्ञान-रूपिणी बुद्धि जड़-चेतन की ग्रन्थि को शिथिल करने लगती है, माया से प्रेरित ऋद्धि-सिद्धियाँ छल से अपने आँचल से ज्ञान-दीप को बुझा देती हैं। यदि चतुरा बुद्धि माया की वंचना से बच भी गई तो इंद्रिय-द्वारों पर अधिष्ठित देवता विषय-समीर के स्वागत में गवाक्ष खोल देते हैं और प्रभंजन के प्रकम्प से दीप बुझ जाता है। यदि यह दीपक एक बार बुझ गया तो इसे दुबारा जलाना बड़ा दुष्कर है।[४]

ज्ञान का साधन-पथ इसलिए भी दुर्गम है कि वहाँ मन के लिए कोई आश्रय नहीं है :

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका ।
साधन कठिन न मन कहुँ टेका ॥[५]

ज्ञान-दीपक प्रकरण का उपसंहार करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं :

ग्यान पंथ कृपान कै धारा ।
परत खगेस होइ नहिं बारा ॥[६]

कठोपनिषद् में भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त है :

---

१ वही, १८।२०
२ भागवत ११।१६।१५
३ होंइ घुनाच्छर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक
—मानस, उत्तर० ११८
४ मानस, उत्तर० ११८
५ वही, उत्तर० ४५
६ वही, उत्तर० ११८-१९

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ।[१]

जहाँ तक भक्ति और ज्ञान में मोक्ष-साधनता का तथ्य है, तुलसी ने ज्ञानदीप और भक्ति-चिन्तामणि के तुलनात्मक दृष्टान्त के प्रसंग में अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है :

ज्ञानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा ।
उभय हरहिं भव संभव खेदा ॥[२]

गोस्वामी जी ने भक्तों की चार कोटियाँ बताई हैं । ज्ञानी भक्त ही प्रभु को विशेष प्रिय है :

राम भगति जग चारि प्रकारा ।
सुकृति चारिउ अनघ उदारा ॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा ।
ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा ॥[३]

ज्ञानी को भी भक्त की श्रेणी में परिगणित कर गोस्वामी जी ने ज्ञान और भक्ति के समन्वय को अधिक स्पष्ट कर दिया है । अभेदोपासना भी भक्ति ही है, अतः अभिन्नात्मदर्शी विद्वान को अपने को भक्त मानने में संकोच का अनुभव नहीं करना चाहिए ।

गीता में भी भगवान् ने ज्ञानी को भक्त की श्रेणी में रख, और ज्ञानी-भक्त को अपना ही आत्मा बताकर भक्ति संवलित ज्ञान को सर्वाधिक मान दिया है । गोस्वामी जी का उपर्युक्त वचन गीता के अधोलिखित श्लोकों का अनुवाद-सदृश ही है :

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं च स च मे प्रियः ॥[४]

●

---

१ कठ उप० १।३।१४

२ मानस, उत्तर० ११५

तुलनीय :

....He can be comprehended by knowledge; but only by the good is He also comprehended.

—St. Bernard

३ मानस, बाल० २२

४ गीता, ७।१६-१७

नामानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका

(क)

अथर्ववेद १३, १४
अप्पय दीक्षित १२५
अदिति सूक्त १३
अद्वैत सिद्धि १२४
अरस्तू ६, १३, ५६
अपरोक्षानुभूति १२२
आत्मबोध ६४, १२७
आथरशिप ऑव आध्यात्म रामायण ४२
आध्यात्म रामायण ४२, ४३, ६४, ६५, १००, १०१, ११८, १३४, १३६, १६८, १६६
इन्ट्रोडक्शन टु द पाँचरात्र ४२
ईश उपनिषद् ... ६, १८, ८६, ६१, १७७
ईश-भाष्य, शङ्कराचार्य २८, ६०, ८५
ईशावास्य उपनिषद् १८
उच्छिष्ट सूक्त १४
उत्तररामचरित २३
उदयनाचार्य १४५
उमामहेश्वर २३
ऋग्वेद १४, १५, १२८, १७४
एकनाथ ३४
ऐतरेय उपनिषद् ६, १५, ५६, ५८, ७७, ८८, ८६, १२२

ऐतरेय भाष्य, शंकराचार्य ८६
कठ उपनिषद् ६, १७, १८, १६, ५०, ६०, ६६, ७२, ८४, ८६, ६०, ६१, ६३, १४३, १४६, १४७, १५५, १७६, १८४
कठ-भाष्य, शङ्कराचार्य २७, ५७, ७५, ८७, १३४, १४०
कबीर १०४
करपात्री जी, स्वामी ६७
कल्पतरु ... १४८
काण्ट ३०, ८२
कामिल बुल्के ४०, ४२
कूर्म पुराण ११४, ११५, ११७
केन-भाष्य, शङ्कराचार्य २७, ६३, ६६, ८१, ८८, ८५, ८६, ८७, १४७, १५०
कौटिल्य १०
क्रोचे ११
खण्डन खण्ड खाद्य ७२, ७३
खण्डन खण्ड खाद्यकार ... ४८
गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल ४२
गीता १०, ३४, ६०, ६६, ७२, ७७, ६३, ६८, ११६, १२०, १२५, १३३, १३४, १३६, १४०, १६६, १७४, १७८
गीता-भाष्य, शङ्कराचार्य ४८, ५४, ५५, ७१, १३०, १३६, १५६, १७८
गीता-भाष्य, शङ्करानन्द १५७
गोस्वामी तुलसीदास (ग्रन्थ) ३१
गोरख १०८
गौड़पाद २४, १२४
चित्सुख ३५, ६४

चित्सुखी ६४, ६५, १०२, १२८
छान्दोग्य उपनिषद् ... ६, १७, ६२, ७२, ७६, ७७, ७६, १२२, १३४, १४०
छान्दोग्य भाष्य, शङ्कराचार्य ६, २५, २८, ४५, १०७, १३५, १४१, १४७, १५०, १७४, १७५, १७६, १७७
जयन्त भट्ट २३
टालस्टाय ६
डेकार्ट ६
तत्त्वदीपिका २३
तत्त्वार्थसूत्र १०
तत्त्वोपदेश ४७, ६४, १२६
तत्त्वमुक्ताकलाप की सर्वार्थसिद्धि टीका २२
तुकाराम ... ३४
तुलसी-दर्शन ६७
तैत्तिरीय उपनिषद् ६२, ७४, ७६, ७७, ७८ ८२, ८६
तैत्तिरीय ब्राह्मण १६, ४६, ४६, ५०, ५१ ५२, ५३, ५६, ५७, ६६
तैत्तिरीय भाष्य, शङ्कराचार्य २८, ६२, ७५, ८६, ६० १७७
थीबो, डा० .... २४, २५, ४२
द्रविड़ाचार्य २२
दोहावली १०७, १३७
नरहरि ३४
नागार्जुन २७
नामदेव ३४
नारदभक्ति सूत्र १६६
नासदीय सूक्त १५
निरुक्त १४
नृसिंह पूर्व तापनी उपनिषद् १७७

नैषध चरित २२
नैष्कर्म्यसिद्धि २२, ७१, ८२, ८७, ११४, १४६, १४९, १५०
न्याय मञ्जरी २३
पतञ्जलि १३, ४६, १४४
पंचदशी २३, ६९, ११६
पंचविश ब्राह्मण १६
पाणिनि २३, ४६, ६९
पार्मेनाइडीज ३०
पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ३१
पूज्यपाद ६०
पैथागोरस ९
प्रश्न उपनिषद् १७७
प्रश्न-भाष्य, शंकराचार्य १८, ९३
प्रौढ़ानुभूति १२०, १२२
प्लेटो ९, १३, ३०
बदरी नारायण श्रीवास्तव ४२
बलदेव प्रसाद मिश्र ९६, ९७
बादरायण २०, ८०, ९९
बुद्ध २२
बृहदारण्यक उपनिषद् ९, १७, १८, ४६, ४९, ५६, ५९, ६०, ६२, ६६, ७२, ७९, ८०, ८१, ८२, ८५, ८९, ९१, ९३, १२३ १३४, १३५, १४०, १४३, १४७, १५४, १७७
बृहदारण्यक भाष्य, शङ्कराचार्य.... २६, २७, ८७, १४१
बृहदारण्यक वार्त्तिक सार ... १७, १८, १५०
बेबर ४२
बोध सार ३४
ब्रह्मसूत्र २०, २२, ६४, ८०, १०६, १२३

ब्रह्मसूत्र भाष्य, शङ्कराचार्य २२, ७८
ब्रह्मसूत्र पर रत्नप्रभा भाष्य ६४, १२७
ब्रह्मदत्त २२
बृहद् देवता १४
ब्रह्माण्ड पुराण ४१
ब्रैडले २७, ३०, ६७
भर्तृहरि २३, ४६
भवभूति ११, १३
भण्डारकर, आर० डी० .... २०
भागवत २६, ३४, ७८, ६३, ६७, ६८, ६६, ११५, १२०, १३४, १४२, १६७, १७६
भामती २२, १४८
भास्कर २४, १३८
भविष्य पुराण १६२
मत्स्य पुराण ४१
मधुसूदन ३५, १२४
महाभारत ४१, ४६
महावीर ६
महाभाष्य १३
मानस : बालकाण्ड के स्रोत १०६
माण्डूक्य उपनिषद् २२, १०८
मुण्डक उपनिषद् १०, १७, १८, १६, ६०, ६६, ७५, ७६, ७६, ८१, ८२, ८८, ६१, ६३, १३६, १४०, १४३, १५३, १५४, १७७
मुण्डक भाष्य, शङ्कराचार्य २७, १५६
मेम्वायर बर्लिन एकेडमी ४२
मैत्री उपनिषद् ६३
यजुर्वेद १४
यास्क १४, १२२

याज्ञवल्क्य स्मृति १४१
रत्नप्रभा भाष्य ६४
रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री ४२
रस्किन ६
राधाकृष्णन, सर २२
राधा का क्रमिक विकास १०४
राम-कथा ४०, ४२
राम तापनीय उपनिषद् ४२
रामानुज २८, २६
रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव ४२
लघुवार्त्तिक ४६
लघुवाक्यवृत्ति ६७
वाक्यपदीय ... २३, ४६
वाचास्पति मिश्र २१, २२
वाल्मीकि रामायण ४०
विद्यारण्य ३३, ११६, १३६
विनय पत्रिका ३२, ११५, १५६
विजयानन्द त्रिपाठी की मानस-टीका. १३०
विवेक चूड़ामणि .... २७, ३..., ४७, ११४, १२३, १२६, १५६, १५७, १७७
विवरणप्रमेय संग्रह ४४, ५४, ८७, ६०, ११६, १२४, १३६
विष्णु पुराण १२०
वेदान्त परिभाषा ५०, १२६, १४६
वेदान्त सार १४६
वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली ४८, ६१, ७४, १२१, १३०
वेदान्त सूत्र १४५
वैष्णविज्म शैविज्म ४२
व्यास ४६, १०६, १४५
शङ्कराचार्य .... ६, १,१७, २२, २४, ... २५, २६, २७, २८, २६,

३१, ३५, ३६, ४७,
७३, ७५, ७६, ८४, ८५,
८६, ६०, ६६, १०५, १०७
१२२, १२३, १२६, १२७,
१२८, १३५, १३६, १४७,
१५०, १५३, १५६, १५८,
१५६, १७४, १७५, १७६,
१७७, १७८

शतपथ ब्राह्मण १६
शशिभूषण दास गुप्ता १०४
शारीरक भाष्य २५, २६, २७, २८, ३२,
४५, ४६, ५६, ६३, ७७,
७६, ८६, १०५, १०७,
१०८, ११६, १२०, १२१,
१३६, १४१, १५३, १५४,
१५८, १५६
श्यामसुन्दर दास ३१
श्वेताश्वतर उपनिषद् ६१, ६२, ६६, ७२, ८१,
८४, ८५, ६३, १२३, १४०
१७७
समाधि-शतक ६०
सर भण्डारकर ४२
सर्वज्ञात्म ३५
सिद्धान्त कल्पवल्ली ७६, ८०, १४५, १४६
सिद्धान्त बिन्दु १४१
सिद्धान्त लेश संग्रह १२५, १२६
सुन्दर पाण्ड्य २२
सुरेश्वर ३५, १४६, १५०
सांखायण १६
स्कम्भ सूक्त १३
स्वामी पद्मपाद ३५
स्पिनोजा १३, ३०, ५६, ६०

हरिवंश पुराण ४२
हर्ष चरित २३
हापकिन्स २०
हेगल ३०
श्रीधर स्वामी ३५
श्री समर्थ ३४
श्री हर्ष २२, २७, १२२
श्रीश कुमार १०६

(ख)

A History Of Indian Literature 15
Advaita Vedanta 21
Anselm, St. 155
Bernard St. 155, 180
Bhandarkar, R. G. 20
Bhattacharya, U. C. 20
Bloomfield 16
Charles. P. Steinmetz 82
Coleridge 84
Critique of Pure Reason 82
Deussen 14
Durant, Will 82
Eckhart 153
First Principles 86
Flackenberg 82
Francois De Sales 153
Gentile 154
Ghate, V. S. 35
Gough 24
Green 97
History of Modern Philosophy 20

History of Sanskrit Literature... 15
Herbert Spencer 86
Hopkins 20
Indian Philosophy 15, 19, 22, 97, 113
Introduction to the Vedantasara 21, 25
Karl Barth 105
Jacob, Colenel 25
Kokileswar Sastri 21
Leaves of Grass ... 86
Malebranche ... 82
Mind 97
Max-Muller 15, 19
Outlines of Indian Philosophy 14, 16
Pathway to God in Indian Literature 60
Paul Deussen 16
Philosophy of the Upanisads 24
Philosophy of the Vedanta 24
Plotinus 89
Proceedings of the Fifth I. O. Conference 20
Prolegomena to Ethics 97
Radhakrishnan, S. 15, 16, 19, 22, 25, 35, 97, 113
Ranade, R. D. 60
Reign of Relijon in Contemporary Philosophy 44
Sacred Book of the East 19
Scoutus Erigena 88
Sen, P. N. 22
The Bramha Sutra 35

The Knowledge of God and the Service of God 105
The Principal Upanisads 16
The Relijon of the Veda 16
The story of Philosophy 82
The Vedanta 35
Theory of Mind as Pure Act 154
Thibut 21, 25
Vasnavism Śaivism and other minor sects 20
Whitman 16
Winteṇitz 15
Yeats, W. B. 16

891.4309
SK401R

This book was taken from the Library on the date Last stamped. A fine of 10 paise will be charged for each day the book is kept over time (within 14 days).

DATE OF RETURN

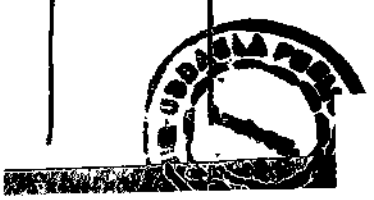

The
Amir-ud-daula
Public Library,
Lucknow.
1. Books borrowed by
members (Depositors)
may be retained for 14
days only.
2. A fine of ten paisa
will be charged each
day for each volume that
is overdue.
3. Borrowers will be
held strictly responsible
for any damage incurred
to books while in
their possession.